जाति विच्छेद

बी० आर० अम्बेडकर
न्याय मन्त्री, भारत सरकार

अमृत बुक कम्पनी
कनाट सरकस, नई दिल्ली

"दो शब्द"

श्री अंबेडकर विचार प्रचारक संघ नई देहली का पवित्र ध्येय परम पूज्य बाबा साहेब डा० भीमराव रामजी अंबेडकर जी, न्याय मंत्री, केन्द्रीय सरकार के अमूल्य विचारों का सर्व-साधारण जनता में प्रचार करना है।

"जाति-विच्छेद" का प्रथम प्रकाशन इसी ध्येय का पांचवाँ पुष्प है। इस प्रयास को सफल बनाने में दादा साहेब श्री एस. जी. पाटील जी ने जो अनमोल सहयोग दिया है उसके लिए, और पं० संतरामजी, प्रधान जाँत-पाँत तोडक मंडल होशियारपुर ने जो सहायता दी है उसके लिए भी, हम सदैव ही अनुगृहीत रहेंगे।

शंकरानन्द शास्त्री
एम. ए., एम. ओ. एल.
प्रधान मंत्री,
अंबेडकर विचार प्रचारक संघ,
नई देहली।

विषय-सूची

दूसरे संस्करण की भूमिका

लाहौर के जात पांत तोड़क मण्डल के लिए जो अभिभाषण मैं ने तैयार किया था उसका जिस हिन्दू जनता के लिए वह मूलतः अभिप्रेत था उसने आश्चर्यजनक रूप से उत्तम स्वागत किया है। डेढ़ सहस्र प्रतियों का अंगरेजी संस्करण उस के प्रकाशित होने के बाद दो मास के भीतर ही समाप्त हो गया। इस का गुजराती और तामिल में भाषान्तर हो चुका है 'मराठी, हिन्दी, पंजाबी और मलयालम में अनुवाद हो रहा है। अंगरेजी पुस्तक की माँग अभी तक भी बराबर नहीं हुई है। इस माँग को पूरा करने के लिए दूसरा संस्करण छापना आवश्यक हो गया है। मुझे कहा गया था कि मैं इस इसके मूल निबंध रूप को बदल कर एक मात्र वृत्तान्त के रूप में दुबारा लिखूं। परन्तु इस प्रबंध का जो एक इतिहास है और इस रूप में जैसा यह हृदयग्राही है, इसका विचार करके मैंने इसे ज्यों का त्यों हो रहने दिया है। इस संस्करण में मैंने दो परिशिष्ट बढ़ा दिये हैं। परिशिष्ट (१) में मैंने श्री गाँधी के दो लेख इकट्ठे किए हैं जो उन्होंने मेरे अभिभाषण की और जात पांत तोड़क मण्डल के सदस्य श्री० सन्तराम के पत्र की अलोचना के रूप में "हरिजन" में लिखे थे। परिशिष्ट (२) में मैंने परिशिष्ट (१) में इकट्ठे किए हुए गाँधीजी के लेखों के उत्तर में अपना मत छापा है। गांधीजी

अतिरिक्त कई दूसरों ने भी मेरे अभिभाषण में प्रकट किए गये
चारों की कड़ी आलोचना की है। परन्तु मैंने अनुभव किया है
मैं दूसरों को छोड़ कर केवल गांधीजी का ही उत्तर दूं।
इसलिए नहीं कि उन्होंने जो कुछ कहा है वह इतना महत्व-
र्ण है कि उस का उत्तर देना आवश्यक है, वरन् इस लिए कि
अनेक हिन्दू उनकी बात को आप्त वचन मानते हैं, इतना अधिक
कि ज्यों ही गांधीजी के मुखसे कोई शब्द निकले बस फिर दूसरे
मनुष्य की कोई युक्ति और तर्क की कोई आवश्यकता नहीं रह
जाती; उनके सामने सबको चुप हो जाना चाहिए। परन्तु संसार
उन विद्रोहियों का बहुत ऋणी है जो बड़े से बड़े धर्माचार्य के
साथ भी वाद-विवाद करने का साहस करते हैं और आग्रह करते
हैं कि वह निर्भ्रान्त नहीं। मुझे उस श्रेय को लेने की चिन्ता
नहीं जिसका अपने विद्रोहियों को देना प्रत्येक समाज के लिए
आवश्यक है। मैं सन्तुष्ट हो जाऊंगा यदि मेरे प्रयत्न से हिंदू
यह अनुभव करने लग जायं कि वे भारत के रुग्ण मनुष्य हैं
और कि उन का रोग दूसरे भारतीयों के स्वास्थ्य एवं सुख के
लिए भय उत्पन्न कर रहा है।

भीमराव रामजी अम्बेडकर

मुखबन्ध

१२ दिसम्बर १६३५ को मुझे जात-पाँत तोड़क मण्डल लाहौर, के मंत्री श्रीयुत सन्तराम का निम्नलिखित पत्र मिला—

प्रिय डाक्टर जी,

आप के ५ दिसम्बर के कृपा पत्र के लिए धन्यवाद। मैं ने आप की अनुमति के बिना ही उसे पत्रों में छपा दिया है, जिस के लिए मैं क्षमा-प्रार्थी हूं। कारण यह कि उसे प्रकाशित करने में मुझे कोई हानि नहीं देख पड़ी। आप बड़े विचारक हैं और यह मेरा सुचिन्तित मत है कि जातिभेद के प्रश्न पर जितना गहरा विचार आपने किया है उतना किसी दूसरे ने नहीं। मैं ने और हमारे मण्डल ने आप के विचारों से सदा लाभ उठाया है। मैं "क्रान्ति" के द्वारा उन का प्रचार करता हूँ। मैं कई सम्मेलनों में उन पर व्याख्यान भी दे चुका हूँ। अब मैं आप के इस नवीन सूत्र की व्याख्या सुनने के लिए बहुत उत्सुक हूं कि——"जिस धार्मिक भावना पर जातिभेद आधारित है, जब तक उसको नष्ट नहीं किया जाता, तब तक जातिभेद को मिटाना संभव नहीं।" कृपया यथासंभव शीघ्र ही अवश्य इस की व्याख्या कीजिए, ताकि हम इस विचार को ले कर वाणी और लेखनी द्वारा इस का प्रचार कर सकें। इस समय इस सूत्र का भाव स्पष्ट रूप से मेरी समझ में नहीं आ रहा है। ....

हमारी कार्यकारिणी समिति आप को हमारे वार्षिक
म्मेलन का प्रधान बनने के लिए आग्रह कर रही है। आप की
ुविधा के लिए हम अपनी तिथियां बदल सकते हैं। पंजाब के
वतंत्र हरिजन आप से मिल कर अपनी योजनाओं पर विचार
करने के लिए बहुत उत्सुक हैं। इसलिए यदि आप हमारी प्रार्थन
ो स्वीकार करके लाहौर पधारेंगे और हमारे सम्मेलन
प्रधानपद को सुशोभित करेंगे तो इस से एक पंथ दो काज व
ात हो जायगी। हम विचित्र विचारों के हरिजन नेताओं व
निमन्त्रित करेंगे और आप को उन तक अपने विचार पहुँचवाने
का अवसर मिल जायगा।

मण्डल ने अपने सहायक मंत्री, श्री० इन्द्र सिंह, को बंबई
में क्रिस्मिस में आप से मिलने और हमारी प्रार्थना स्वीकार कर
ने की प्रेरणा करने के उद्देश्य से आप के साथ सारी स्थिति पर
विचार करने के लिए नियुक्त किया है। ...."

मुझे बताया गया था कि जात-पांत तोड़क मण्डल समाज
सुधारक सवर्ण हिन्दुओं की एक संस्था है, जिस का एक मात्र
उद्देश्य हिंदुओं में से जातिभेद को मिटाना है। मेरा नियम है कि
सवर्ण हिंदुओं द्वारा संचालित किसी भी आन्दोलन में भाग
लेना मैं पसंद नहीं करता। सामाजिक सुधार के प्रति उनका
भाव मेरे भाव से इतना भिन्न है कि मैं ने देखा है कि उन के
साथ मिल कर काम करना मेरे लिए कठिन है। वास्तव में
मत-भेद के कारण मुझे उनका साहचर्य अपने अनुकूल नहीं

जान पड़ता। इस लिए जब मण्डल ने पहली बार मुझ से प्रार्थना की तो मैंने उन के सम्मेलन का प्रधान बनने से इनकार कर दिया। परन्तु मंडल मेरा इनकार माननेको तैयार न था। उन्होंने अपना निमंत्रण मनवाने के लिए अपना एक सदस्य मेरे पास बंबई भेजा। अन्त में मैं ने प्रधान बनना स्वीकार कर लिया। वार्षिक सम्मेलन मण्डल का हैडक्वार्टर लाहौर में होने को था। सम्मेलन ईस्टर में होने जा रहा था परन्तु बाद को इसे मई १९३६ के मध्य के लिये स्थगित कर दिया गया। मण्डल की स्वागत समिति ने अब सम्मेलन को बंद कर दिया है। बंद कर देने की सूचना मेरा "सभापति का अधिभाषण" मुद्रित हो जाने के बहुत दिन बाद मुझे मिली 'अधिभाषण' की प्रतियां अब मेरे पास पड़ी हैं। मुझे प्रधान के आसन से अपना अधिभाषण देने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए जनता को जाति भेदमे उत्पन्न होने वाली समस्याओंके विषय में मेरे विचार जानने का अवसर नहीं मिल सका जनता को उनका ज्ञान कराने और मेरे पास छपी पड़ी प्रतियों को किसी ठिकाने लगाने के लिये मैंने छपी हुई प्रतियोंको बाजारमें बेच देनेका निश्चय किया है अगले पन्नोंमें मेरा वही अधिभाषण दिया गया है।

जनता शायद यह जाननेके लिये उत्सुक होगी कि किन कारणोंसे सम्मेलनके प्रधान पदके लिये मेरी नियुक्ति रद्द कर दी गई आरम्भमें अधिभाषणकी छपाईके संबंधमें झगड़ा उठा। मेरी इच्छा थी कि अधिभाषण बंबईमें छपे। मण्डल चाहता था कि

मितव्ययके विचारसे इसे लाहौरमें छपाया जाय। मैं इसके साथ सहमत नहीं था मैंने इसे बंबई में ही छपाने का आग्रह किया। मेरी बात माननेके स्थानमें मुझे एक चिट्ठी मिली, जिसपर मण्डल के कई सदस्योंके हस्ताक्षर थे। उसमें से मैं निम्नलिखित उद्धरण देता हूँ:—

मान्य डाक्टर जी !

इसी मासकी २४ तारीखकी श्रीयुत सन्तराम के नाम भेजी हुई आपकी चिट्ठी हमने देखी है। यहां जो स्थिति उत्पन्न हो गई है, कदाचित् आपको उसका ज्ञान नहीं। पंजाब के प्रायः सभी हिन्दू आपको इस प्रान्तमें बुलाने के विरुद्ध हैं। जात पांत तोड़क मण्डलकी बहुत ही कटु आलोचना हो रही है और सब ओरसे उसे भर्त्सना मिल रही है। सब हिन्दुओं ने जिनमें हिन्दू महा-सभा के भूतपूर्व प्रधान भाई परमानन्द एम. एल. ए., महात्मा हंसराज, स्थानीय स्वायत्त शासन के मंत्री डाक्टर गोकुलचन्द नारङ्ग, राजा नरेन्द्रनाथ, एम. एल. सी. इत्यादि भी हैं, अपने को मण्डल के इस काम से अलग कर लिया है।

इस भयके रहते भी जात पांत तोड़क मण्डल के संचालक, जिनमें प्रमुख श्रीयुत सन्तराम हैं, निश्चय किये हुए हैं कि चाहे जो भी हो आपको प्रधान बनानेका विचार नहीं छोड़ेंगे। मण्डल बदनाम हो गया है..................ऐसी अवस्था में मण्डल को सहयोग देना आपका कर्त्तव्य हो जाता है। एक ओर तो हिन्दू लोग मण्डल वालों को इतना कष्ट दे रहे हैं, और दूसरी ओर

यदि आप भी उनकी कठिनाइयों को बढ़ायेंगे तो यह उनके लिये बड़े दुर्भाग्यकी बात हो जायगी।

हमें आशा है कि आप इस विषयपर विचार करके वह काम करेंगे जो हम सबके लिए अच्छा है।"

इस चिट्ठीने मुझे आश्चर्यमें डाल दिया। मैं नहीं समझ सकता था कि मेरा "अधिभाषण" मुद्रित करानेके बारेमें थोड़ेसे रुपये के लिये मण्डल मुझे क्यों असन्तुष्ट कर रहा है। दूसरे, मैं यह विश्वास नहीं कर सकता था कि सर गोकुलचन्द नारङ्ग जैसे मनुष्यों ने वस्तुतः इसलिये मण्डलसे संबन्ध तोड़ लिया है क्योंकि मण्डल ने मुझे प्रधान चुना है। कारण यह कि मुझे स्वयं सर गोकुलचन्द नारङ्ग ने निम्नलिखित चिट्ठी भेजी थी:—

५, मिण्टगुमरी रोड,
लाहौर,
५ फरवरी १९३६

प्रिय डाक्टर अम्बेडकर,

जात पाँत तोड़क मण्डल के कर्मचारियों से मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि आपने ईस्टरकी छुट्टियों में लाहौर में होने वाले उनके वार्षिकोत्सव में प्रधान बनना स्वीकार कर लिया है। अपने लाहौर प्रवास में यदि आप मेरे पास ठहरेंगे तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।

अधिक मिलने पर

आपका—
गो० चं० नारङ्ग

सचाई कुछ भी हो, मैं इस दबावके सामने झुका नहीं। मण्डल ने जब देखा कि मैं बम्बई में ही अपना अधिभाषण मुद्रित कराने पर आग्रह कर रहा हूँ तो मेरे प्रस्ताव के साथ सहमत होने के स्थान में मण्डल ने मुझे एक तार भेजा कि "आपके साथ व्यक्तिगत रूप से बातचीत करने के लिये" हम श्री० हरभगवान को बम्बई भेज रहे हैं। श्री० हरभगवान ६ अप्रैल को बम्बई आए। जब मैं श्री० हरभगवान से मिला तो मैंने देखा कि प्रकृत विषय के संबन्ध में कहने के लिये उनके पास कोई भी बात न थी। वास्तव में अधिभाषण के मुद्रित कराने के विषय में कि इसे लाहौर छपाया जाय या बम्बई में, वे इतने उदासीन थे कि हमारे वार्तालाप काल में उन्होंने इस की चर्चा तक न चलाई। उन्हें एक मात्र चिन्ता थी यह जानने की कि "अधिभाषण" में मैंने क्या लिखा है। तब मुझे विश्वास हो गया कि अधिभाषणको लाहौर में मुद्रित कराने का मण्डल का मुख्य उद्देश्य रुपया बचाना नहीं, वरन् "अधिभाषण" में लिखी बातों का ज्ञान प्राप्त करना था। मैंने उन्हें एक प्रति देदी। उसके कई अंश जब उन्हें बहुत अच्छे नहीं लगे वे लाहौर लौट गये। लाहौर से उन्होंने मुझे आगे दिया पत्र लिखा—

लाहौर, तारीख एप्रिल १४, १९३६

मेरे प्यारे डाक्टर साहब;

मैं १२ तारीख को बम्बई से लाहौर वापस पहुँच गया था। परन्तु मैं तभी से अस्वस्थ हूँ, क्योंकि रेल

में मुझे पाँच छः रातें निरन्तर जागना पड़ा था वहां पहुँच कर मुझे मालूम हुआ कि आप अमृतसर आए थे। यदि मैं स्वस्थ होता तो मैं वहां आपसे मिलता। मैंने आपका "अभिभाषण" अनुवाद के लिये श्री० सन्तराम को दे दिया है। उन्होंने इसे बहुत पसंद किया है। परन्तु वे निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते कि २५ तारीख से पहले छपने के लिए इसका भाषान्तर हो सकेगा जो भी हो, इसका खूब प्रचार किया जायगा। हमें निश्चय है, यह हिन्दुओं को उनकी घोर निद्रा से जगाने का काम करेगा।

बंबई में आप के अभिभाषण के जिस अंश की ओर मैं ने संकेत किया था, उस पर हमारे कई मित्रों को थोड़ा संदेह हो रहा है। हम में से जो इस बात के इच्छुक हैं कि यह सम्मेलन निर्विघ्न समाप्त हो वे चाहते हैं कि कम से कम इस समय के लिए 'वेद' शब्द उस में से निकाल दिया जाये। मैं यह बात आप के विवेक पर छोड़ता हूँ। परन्तु मैं आशा करता हूँ कि आप अपने उपसंहार में यह बात यह बात स्पष्ट कर देंगे कि "अभिभाषण" में प्रकट किए गये विचार आपके निजी हैं, उनका दायित्व मण्डल पर नहीं। आशा है, आप मेरे इन शब्दोंको बुरा नहीं मानेंगे और "अभिभाषण" की १००० प्रतियां हमें भेज देंगे। इन प्रतियों का मूल्य आप को दे दिया जायगा। इसी बात का एक तार मैंने आज आप को भेजा है। सौ रुपए का एक चेक चिट्ठी के साथ भेज रहा हूँ। पहुंच लिखने की कृपा कीजिए। अपने बिल भी यथा समय भेजिए।

हो गये हैं। हमें बड़ी प्रसन्नता होती यदि आप अपना अधिभाषण उसी अंश तक परिमित रखते जो आपने मुझे दिया था, अथवा यदि इस में कुछ वृद्धि आवश्यक ही थी तो जो कुछ आपने ब्राह्मणवाद इत्यादि पर लिखा है। इसे वहीं तक सीमित कर दिया जाता। अन्तिम भाग जिसमें हिन्दू धर्म के पूर्ण उच्छेद का वर्णन है और जिसमें हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थों की सदाचार-नीति पर संदेह किया गया है, और इस के अतिरिक्त हिन्दू समाज को परित्याग कर देने के संबंध में आप का संकेत, मुझे असंगत प्रतीत होते हैं।

इसलिये मैं उन लोगों की ओर से जिन पर सम्मेलन का दायित्व है नम्रता-पूर्वक आप से प्रार्थना करता हूं कि जिन अंशों की ओर मैं ने ऊपर संकेत किया है उन को निकाल दीजिए और अधिभाषण उतना ही रहने दीजिए जितना आपने मुझे दिया था, या ब्राह्मणवाद पर थोड़े से अनुच्छेद बढ़ा दीजिए। अधिभाषण को अनावश्यक रूप से क्रोधोद्दीपक एवं ...ने वाला बनाने में हम कुछ बुद्धिमत्ता नहीं देखते। हम में अनेक ऐसे हैं जो आप के भावों के साथ सहमत हैं और हिन्दू-धर्म के सुधार के लिए आप के झंडे तले काम करने को तैयार ... आपने अपने मत के लोगों को इकट्ठा करने का निश्चय ... आप को विश्वास दिलाता हूँ कि आप की सुधारक ... से बहुत लोग सम्मिलित होंगे।

... यह है कि हम समझे हुए थे कि जातिभेद रूपी

बुराई को मिटाने में आप हमारा नेतृत्व करेंगे, विशेषतः जब कि आप ने इस विषय को इतनी अच्छी तरह अध्ययन किया है, और क्रान्ति उत्पन्न करके इस प्रकाण्ड प्रयास में अपने को एक केन्द्र बनाकर हमारी शक्ति को बढ़ायेंगे, परन्तु जिस प्रकार की घोषणा आपने की है, वह बार बार कहने से निःसत्व हो कर एक साधारण सी चीज हो जाती है। इन अवस्थाओं में मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि सारे विषय पर पुनर्विचार कीजिये और यह कह कर अपने अधिभाषण को अधिक हृदयग्राही बनाइए कि यदि हिन्दू जातिभेद को मिटाने के लिये सच्चे हृदय से काम करना चाहते हैं, चाहे इसमें उन्हें अपने बन्धु-बांधवों और धार्मिक भावनाओं को भी छोड़ना पड़े, तो मैं इसमें मुख्य भाग लेने को तैयार हूँ। यदि आप ऐसा करेंगे, तो मुझे विश्वास है कि ऐसे प्रयत्न में आपको पंजाब में पूरी सहायता मिलेगी।

इस संकट-काल में यदि आप हमारी सहायता करेंगे और वापसी डाक से सूचित करेंगे कि ऊपर कहे के अनुसार आपने अपने अधिभाषण को सीमित करना स्वीकार कर लिया है तो हम आपके बहुत कृतज्ञ होंगे क्योंकि हम पहिले ही बहुत खर्च कर चुके हैं और असमंजस में पड़े हुए हैं। यदि आप अब भी अपना अधिभाषण अविकल रूप में छपाने का आग्रह करेंगे, तो हमें खेद है कि फिर सम्मेलन करना हमारे लिये न संभव होगा और न उचित ही। ऐसी दशा में हम इसे अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर देना ही पसन्द करेंगे, यद्यपि इस

मैंने स्वागत-समिति का अधिवेशन बुलाया है। उसके निर्णय भी सूचना शीघ्र ही आपको दे दी जायगी। इस बीच में, आपने मेरे साथ जो प्रेमपूर्ण व्यवहार किया है और अपना अधिभाषण तैयार करने में जो परिश्रम किया है उस के लिए मेरा हार्दिक धन्यवाद स्वीकार कीजिए। आप ने सच मुच हम पर बड़ा भारी उपकार किया है।

आपका—

हर भगवान

पुनश्च—अधिभाषण के मुद्रित होते ही उसकी १००० प्रतियां मुसाफिर गाड़ी से भेजने की कृपा कीजिए ताकि वे समाचार-पत्रों में प्रकाशित होने के लिए भेजी जा सकें।

तदनुसार मैंने अपना अधिभाषण छपने के लिए प्रेस में भेज दिया और १००० प्रतियां छापने का आदेश कर दिया। आठ दिन बाद मुझे श्री० हर भगवान का एक दूसरा पत्र मिला। उसकी नकल मैं नीचे देता हूँ:—

लाहौर, २२-४-३६

प्रिय डा० अम्बेडकर,

आप के तार और चिट्ठी के लिए धन्यवाद। आप के इच्छानुसार हम ने सम्मेलन को पुनः स्थगित कर दिया है, परन्तु हम अनुभव करते हैं कि यदि यह २५ और २६ तारीख को हो जाय तो बहुत अच्छा हो, क्योंकि पंजाब में दिन पर दिन गरमी बढ़ रही है। मई के मध्य में काफी गरमी हो जायगी, जिस से दिनमें सम्मेलन की बैठकें सुखद एवं आनन्ददायक न होंगी

इस पर भी, यदि सम्मेलन मईके मध्य में ही हुआ, तो हम सुख सुविधा का यथासंभव पूरा पूरा प्रबंध करने का प्रयत्न करेंगे।

परन्तु एक बात ऐसी है जिसकी ओर मैं आप का ध्यान दिलाने के लिये, बाध्य हुआ हूं। आपको स्मरण होगा कि जब मैं ने धर्मान्तर के विषय पर आपकी घोषणा के संबंध में हमारे कुछ लोगोंके संदेह दिखलाए थे, तो आपने मुझे कहा था कि निस्सन्देह यह बात मण्डलके क्षेत्र से बाहर है। और उस के साथ ही अपने अभिभाषण की पाण्डुलिपि मुझे देते समय आपने मुझे विश्वास दिलाया था कि अभिभाषण का प्रधान भाग उतना ही है। आप केवल दो तीन ही और अध्याय अन्त में बढ़ाना चाहते थे। आपके अभिभाषण की दूसरी किस्त को देख कर चकित रह गये हैं। कारण यह कि इससे अभिभाषण इतना लंबा हो जायगा कि बहुत कम लोग इसे सारा पढ़ेंगे। इस के अतिरिक्त आप ने अपने अभिभाषण में एक बार नहीं कई बार कहा है कि आपने हिन्दू समाज को छोड़ जाने का निश्चय कर लिया है और कि हिन्दू के रूप में यह आप का अन्तिम अभिभाषण है। आप ने वेदों और हिन्दुओं के दूसरे धर्म-ग्रन्थों की नीति एवं युक्ति सिद्धता पर अनावश्यक रूप से कटाक्ष कर दिये हैं और हिन्दू-धर्म के लाक्षणिक पक्ष पर बहुत लंबा लिख दिया है। इस का प्रस्तुत समस्या के साथ बिलकुल कोई संबंध नहीं। यहां तक कि कुछ अंश तो असंगत एवं अप्रासंगिक

गये हैं। हमें बड़ी प्रसन्नता होती यदि आप अपना अधिभाषण उसी अंश तक परिमित रखते जो आपने मुझे दिया था, अथवा यदि इस में कुछ वृद्धि आवश्यक ही थी तो जो कुछ आपने ब्राह्मणवाद इत्यादि पर लिखा है। इसे वहीं तक सीमित कर दिया जाता। अन्तिम भाग जिसमें हिन्दू धर्म के पूर्ण उच्छेद का वर्णन है और जिसमें हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थों की सदाचार-नीति पर संदेह किया गया है, और इस के अतिरिक्त हिन्दू समाज को परित्याग कर देने के संबंध में आप का संकेत, मुझे असंगत प्रतीत होते हैं।

इसलिये मैं उन लोगों की ओर से जिन पर सम्मेलन का दायित्व है नम्रता-पूर्वक आप से प्रार्थना करता हूं कि जिन अंशों की ओर मैं ने ऊपर संकेत किया है उन को निकाल दीजिए और अधिभाषण उतना ही रहने दीजिए जितना आपने मुझे दिया था, या ब्राह्मणवाद पर थोड़े से अनुच्छेद बढ़ा दीजिए। अधिभाषण को अनावश्यक रूप से क्रोधोद्दीपक एवं चुभने वाला बनाने में हम कुछ बुद्धिमत्ता नहीं देखते। हम में अनेक ऐसे हैं जो आप के भावों के साथ सहमत हैं और हिन्दू-धर्म के सुधार के लिए आप के झंडे तले काम करने को तैयार हैं। यदि आपने अपने मत के लोगों को इकट्ठा करने का निश्चय किया तो मैं आप को विश्वास दिलाता हूँ कि आप की सुधारक सेना में पंजाब से बहुत लोग सम्मिलित होंगे।

सच तो यह है कि हम समझे हुए थे कि जातिभेद रूपी

ुराई को मिटाने में आप हमारा नेतृत्व करेंगे, विशेषतः जब के आप ने इस विषय को इतनी अच्छी तरह अध्ययन किया है, और क्रान्ति उत्पन्न करके इस प्रकाण्ड प्रयास में अपने को एक केन्द्र बनाकर हमारी शक्ति को बढ़ायेंगे, परन्तु जिस प्रकार की घोषणा आपने की है, वह बार बार करने से निःसत्व हो कर एक साधारण सी चीज हो जाती है। इन अवस्थाओं में मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि सारे विषय पर पुनर्विचार कीजिये और यह कह कर अपने अधिभाषण को अधिक हृदयग्राही बनाइए कि यदि हिन्दू जातिभेद को मिटाने के लिये सच्चे हृदय से काम करना चाहते हैं, चाहे इसमें उन्हें अपने बन्धु-बांधवों और धार्मिक भावनाओं को भी छोड़ना पड़े, तो मैं इसमें मुख्य भाग लेने को तैयार हूँ। यदि आप ऐसा करेंगे, तो मुझे विश्वास है कि ऐसे प्रयत्न में आपको पंजाब में पूरी सहायता मिलेगी।

इस संकट-काल में यदि आप हमारी सहायता करेंगे और वापसी डाक से सूचित करेंगे कि ऊपर कहे के अनुसार आपने अपने अधिभाषण को सीमित करना स्वीकार कर लिया है तो हम आपके बहुत कृतज्ञ होंगे क्योंकि हम पहिले ही बहुत खर्च कर चुके हैं और असमंजस में पड़े हुए हैं। यदि आप अब भी अपना अधिभाषण अविकल रूप में छपाने का आग्रह करेंगे, तो हमें खेद है कि फिर सम्मेलन करना हमारे लिये न संभव होगा और न उचित ही। ऐसी दशा में हम इसे अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर देना ही पसन्द करेंगे, यद्यपि इस

प्रकार बार बार स्थगित करते रहने से जनता का सद्भाव हम
प्रति कम हो जायेगा। परन्तु हम यह बात कह देना चाहते
कि आपने जाति-प्रथा पर ऐसा अचरज प्रबन्ध लिखकर हम
हृदयों में घर बना लिया है। इस विषय पर आज तक जि
भी प्रबन्ध लिखे गये हैं आपका यह प्रबन्ध उन सबसे बढ़ि
है। कहें तो कह सकते हैं कि यह एक बहुमूल्य दाय सिद्ध होग
इसको तैयार करने में आपने जो भगीरथ परिश्रम किया है
के लिये हम सदा आभारी रहेंगे।

आपकी कृपा के लिये धन्यवाद और शुभ कामनाओं के स

आपका—

हर भगवान

इस पत्रका मैंने निम्नलिखित उत्तर भेजा—

२७ अप्रैल १९

प्रिय श्री हरभगवान,

आपका २२ अप्रैल का पत्र मिला
यह जान कर खेद हुआ है कि यदि मैं अपना अधिभाषण अ
कल रूप में छपाने का आग्रह करूंगा, तो जात-पांत तोड़क मं
की स्वागत समिति "सम्मेलन को अनिश्चित काल के लिये
गित कर देना पसन्द करेगी।" उत्तर में मैं भी आपको सूच
देता हूं कि यदि मण्डल मेरे अधिभाषण को काट छांट कर अप
परिस्थिति के अनुकूल बनाने पर आग्रह करता है तो मैं भी
अस्पष्ट शब्दों में बात कहना मुझे पसन्द नहीं—यही चाहूँगा

सम्मेलन को रोक दिया जाय। आपको मेरा निर्णय बेशक पसन्द न हो। परन्तु मैं, सम्मेलन का प्रधान बनने की प्रतिष्ठाके लिए, उस स्वतन्त्रता को नहीं छोड़ सकता जो प्रत्येक प्रधान को अपना अभिभाषण तैयार करनेके लिए होनी आवश्यक है। मंडल को प्रसन्न करने के लिए मैं उस कर्तव्य को नहीं छोड़ सकता जो प्रत्येक प्रधान का उस सम्मेलन के प्रति होता है जिस का प्रधान बनकर उसे वह मार्ग दिखलाना होता है जिसे वह ठीक और उचित समझता है। यहां प्रश्न सिद्धान्त का है और मैं अनुभव करता हूं कि इस बारे में मुझे किसी प्रकार का समझौता नहीं करना चाहिये।

स्वागत-समितिके निश्चयके औचित्यके सम्बन्धमें मुझे किसी वाद विवादमें पड़ना पसन्द नहीं था। पर आपने विशेष हेतु दिए हैं जो मुझ पर दोष डालते प्रतीत होते हैं। इसलिये उनका उत्तर देना मेरे लिये अनिवार्य हो जाता है। पहली बात यह है कि मैं इस भावनाको दूर कर देना चाहता हूँ कि समितिने जिस भागपर आपत्ति की है उसमें वर्णित मेरे विचार मंडलके लिए कोई विस्मयकी वस्तु हैं। मेरा विश्वास है श्री सन्तराम मेरी गवाही देंगे जब मैं यह कहता हूं कि उनकी एक चिट्ठी के उत्तरमें मैंने कहा था कि जाति भेदको मिटाने की सच्ची रीति अन्तर्वर्णीय विवाह और अन्तरजातीय सहभोज करना नहीं वरन उन धर्म-भावनाओंको नष्ट करना है जिन पर जाति-प्रथा की नीव रखी गई थी और इसके उत्तरमें श्री सन्तराम ने मुझे इसकी

व्याख्या करने को कहा था, क्योंकि यह आश्रंका उन्हें अनोखा प्रतीत हो रहा था। श्री सन्तरामके इस निमन्त्रणके उत्तरमें मैंने सोचा कि मुझे अपने अभिभाषणमें उस बातकी व्याख्या करनी चाहिये जो मैंने उनके नाम अपनी चिट्ठी में एक पंक्ति में लिखी थी इसलिये आप नहीं कह सकते कि जो विचार मैंने प्रकट किये हैं वे नये हैं कम से कम श्री सन्तरामके लिये जो आपके मण्डल की आत्मा एवं अगुआ हैं, ये विचार नये नहीं। परन्तु मैं इससे भी आगे जाता हूँ और कहता हूँ कि मैंने अपने अभिभाषणका यह भाग केवल इसलिये नहीं लिखा कि मैंने अनुभव किया कि इसका लिखना वाञ्छनीय है। मैंने इसे इसलिये लिखा था क्योंकि युक्ति को पूर्ण करना नितान्त आवश्यक था। मुझे यह पढ़कर विस्मय हुआ कि जिस अंशपर आपकी समितिको आपत्ति है उसे आप 'असंगत और अप्रासंगिक' कहते हैं। मैं कहनेकी अनुमति चाहता हूँ कि मैं एक वकील हूँ, और मुझे प्रासङ्गिकताके नियमों का ज्ञान आपकी समितिके किसी सदस्यसे कम नहीं। मैं दृढ़ता पूर्वक इस बातका प्रतिपादन करता हूँ कि जिस भाग पर आपत्ति की गई है वह केवल अतीव प्रासङ्गिक ही नहीं वरन महत्व पूर्ण भी है मैंने उसी भागमें जाति-भेदको मिटानेके साधनों और उपायोंपर विचार किया है। हो सकता है कि जाति-प्रथाके मिटाने की जो सर्वोत्तम रीति मुझे मालूम दी है वह क्लेशजनक एवं चकित कर देने वाली हो। आप कह सकते हैं कि मेरा विषय विश्लेषण गलत है। परन्तु आप यह नहीं कह सकते कि ए

ऐसे अधिभाषणमें जिसका सम्बन्ध जाति भेद की समस्या से है मैं जातिभेदके उच्छेद की विधिपर विचार नहीं कर सकता।

आपकी दूसरी शिकायत अधिभाषण के लंबा होने के बारे में है। इस दोष को मैं ने अधिभाषण में ही स्वीकार कर लिया है। परन्तु वास्तव में इस का दायित्व किस पर है। मुझे भय है कि आप इस काम में देर से आए हैं। नहीं तो आपको पता होता कि मैंने मूलतः अपनी सुविधा के लिए छोटा सा अधिभाषण लिखने का ही विचार किया था, क्योंकि कोई लंबा चौड़ा प्रबंध तैयार करने के लिए न तो मेरे पास समय था और न शक्ति। मण्डल ने ही मुझे इस विषय पर विस्तार पूर्वक लिखने को कहा था। मण्डल ने ही मुझे जातिभेद के संबंध में प्रश्नावली भेजी थी, और अधिभाषण में उस का उत्तर देने को कहा था, क्योंकि वे ऐसे प्रश्न थे जो प्रायः मण्डल के विरोधी किया करते हैं और जिन का सन्तोषजनक उत्तर मण्डल से मुश्किल से बन पड़ता है। इस विषय में मण्डल की इच्छापूर्ति के यत्न करने के कारण ही अधिभाषण इतना लम्बा हो गया है। जो कुछ मैंने कहा है उसको दृष्टि में रखते हुए, मुझे निश्चय है, आप मेरे साथ सहमत होंगे कि अधिभाषण को लंबा करने में मेरा कोई दोष नहीं।

मुझे आशा नहीं थी कि हिन्दू धर्म को नष्ट कर डालने की मेरी बात को सुन कर आप का मण्डल इतना घबरा जायगा। मेरा विचार था कि केवल मूर्ख लोग ही शब्दों से डरते हैं।

कारण मेरी समझ में नहीं आ रहा। जब आपने अपनी १४ तारीख की चिट्ठी लिखी उस समय जो कच्चा मसविदा समिति के सम्मुख था उस में और इस अन्तिम मसविदे में जिस पर समिति ने यह निर्णय किया है जिसकी सूचना आपने मुझे उस पत्र में दी है जिसका मैं अब उत्तर दे रहा हूँ, आशय एवं भाव की दृष्टि से कुछ भी अन्तर नहीं। आप अन्तिम मसविदे में एक भी ऐसा नया विचार नहीं बता सकते जो इसके पहले मसविदे में न हो। विचार वही हैं। अन्तर केवल इतना है कि अन्तिम मसविदे में उनको अधिक विचार-पूर्वक लिखा गया है। यदि अधिभाषण में कोई बात आपत्तिजनक थी तो आप १४ तारीख को ही मुझे कह सकते थे। परन्तु आपने कुछ नहीं कहा। उसके विपरीत आपने जो परिवर्तन मौखिक रूप से सुझाए थे उनको करने या न करने की स्वतन्त्रता मुझे देकर १००० प्रतियां छापने को कहा। तदनुसार, मैंने १००० प्रतियां छपा लीं और वे सब मेरे पास पड़ी हैं। आठ दिन बाद आप लिख रहे हैं कि आप को अधिभाषण आपत्तिजनक है और यदि इसका संशोधन न किया गया तो सम्मेलन बन्द कर दिया जायगा। आपको जानना चाहिए था कि अधिभाषण में किसी प्रकार का हो फेर करने की कोई आशा नहीं। मैंने बम्बई में आपसे कह दिया था कि मैं विन्दु-विसर्ग तक भी बदलने को तैयार नहीं। मैंने यह भी कह दिया था कि मैं अपना अधिभाषण छपने के पूर्व जाँच करने के लिये किसी दूसरे को

लाने को तैयार नहीं, आपको उसे उसी रूप मे ग्रहण करना होगा जिस रूप में कि मैंने इसे लिखा है। मैंने आपसे यह भी कहा था कि अधिभाषण में प्रकट किए गये विचारों का सारा दायित्व मुझ पर है। यदि सम्मेलन ने उन्हे पसन्द न किया वरन् उन पर निन्दा का प्रस्ताव भी पास कर दिया तो मैं तनिक भी बुरा न मानूंगा। अपने विचारोंका उत्तरदायित्व मण्डल पर से हटा लेनेकेलिए और साथ ही आपके संमेलन साथ बहुत अधिक घनिष्ठ साहचर्य मे फसजानेस अपनेको बचानेके उद्देश्यसे मैं इतना उत्सुक था कि मने आपके सामने प्रस्ताव रक्खा कि मैं चाहता हूँ कि मेरे अधिभाषण को प्रधान का अधिभाषण न मान कर एक प्रकार का प्रारम्भिक भाषण समझ लिया जाय, और मण्डल सम्मेलन के प्रधान पद के लिये किसी दूसरे का ढूंढकर प्रस्ताव पास कर लें। १४ तारीख को निश्चय करनेके लिए आपकी समितिसे बढ़कर उपयुक्त और दूसरा कोई नहीं था। पर आपकी समितिने निश्चय नहीं किया। इस बीचमें मुद्रित कराने पर व्यय हो गया। यदि आपकी समिति कुछ अधिक दृढ़ होती तो यह व्यय बचाया जा सकता था।

मुझे निश्चय है कि मेरे अधिभाषणमें प्रकट किये गए विचारोंका आपकी समितिके निश्चयके साथ बहुत थोड़ा सबंध है इस बातका विश्वास करनेके लिए मेरे पास कारण हैं कि अमृतसरके सिक्ख प्रचार सम्मेलनमें मेरी उपस्थितिका आपकी समिति के निश्चय के साथ भारी सम्बन्ध है। समिति ने १४ और २२

जात पांत तोड़क मण्डल, लाहौर

के

सन् १९३६ के वार्षिक सम्मेलन

के लिए

डाक्टर भी० रा० अम्बेडकर

का तैयार किया हुआ

अभिभाषण

जो पढ़ा नहीं गया था

क्योंकि भाषणमें प्रकट किये गए विचारोंके स्वागत-समिति

होनेके कारण समितिने सम्मेलनको बंद कर

मित्रो !

जात-पांत तोड़क मण्डल के सदस्यों के लिये मुझे वस्तुतः खेद है, जिन्होंने मुझे इस सम्मेलन का अध्यक्ष बनने के लिये कृपापूर्वक निमन्त्रित किया है। मुझे निश्चय है कि प्रधानपद के मुझे चुनने के कारण उनसे अनेक प्रश्न पूछे जायेंगे। मण्डल से पूछा जायगा कि लाहौर में होने वाले सम्मेलन की अध्यक्षता के लिये उन्होंने बम्बई से मनुष्य क्यों मंगाया है? मेरा विश्वास है कि अध्यक्ष बनने के लिये मुझ से अधिक योग्य मनुष्य मण्डल को सरलता-पूर्वक मिल सकता था। मैंने हिन्दुओं की आलोचना की है। जिस महात्मा का वे पूजन करते हैं मैंने उसकी श्रद्धेयता में सन्देह प्रकट किया है। उनके लिये मैं उनकी वाटिका में सर्प हूं। निस्सन्देह राजनीतिक विचारके हिन्दू मण्डल से पूछेंगे कि उसने मुझे इस प्रतिष्ठित आसन के लिये क्यों बुलाया है? यह बड़े साहस का काम है। मुझे आश्चर्य नहीं होगा, यदि कुछ राजनीतिक हिन्दू इसे अपमान समझें। मेरे इस चुनाव से निश्चय ही धार्मिक वृत्ति के हिन्दू भी प्रसन्न नहीं होंगे। मण्डल से शायद पूछा जाय कि अध्यक्ष चुनने में उसने शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन क्यों किया है? शास्त्र के अनुसार, ब्राह्मण को तीनों वर्णों का गुरु नियुक्त किया गया है। शास्त्र का आदेश है—वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः। इसलिये मण्डलको पता है कि हिन्दू को किस से शिक्षा लेनी चाहिए और किस से नहीं। शास्त्र इस बात की अनुमति नहीं देते कि कोई हिन्दू किसी व्यक्ति को उस

जात पांत तोड़क मण्डल, लाहौर

के

सन् १९३६ के वार्षिक सम्मेलन

के लिए

डाक्टर भी० रा० अम्बेडकर

का लिखा हुआ

अभिभाषण

जो पढ़ा नहीं गया था

चलन उत्पन्न होचुकी है। मेरी कोई इच्छा नहीं कि मैं हिन्दुओं की वेदी पर बैठकर उनके सामने वह काम करूं जिसे वे अभी तक सुनते ही रहे हैं। यदि मैं यहां हूँ तो अपनी इच्छा से नहीं, वरन आपकी पसन्द से। आपका काम सामाजिक सुधार का है। यह काम मुझे सदा प्यारा रहा है। इसी कारण मैंने अनुभव किया कि इस काम को सहायता देने का अवसर मुझे हाथ से नहीं जाने देना चाहिये, विशेषतः जब कि आप समझते हैं कि मैं इसमें सहायता दे सकता हूँ। जिस समस्या को सुलझाने में आप लगे हुए हैं उसके समाधान में जो कुछ मैं कहने जा रहा हूँ वह आपको सहायक सिद्ध होगा या नहीं, इसका निर्णय करना आप का काम है। मैं तो केवल इतना ही करने की आशा रखता हूँ कि इस समस्या के संबन्ध में अपने विचार आप के सम्मुख रख दूं।

सुधार बनाम राजनीतिक सुधार

सामाजिक सुधार का मार्ग, कम से कम भारत में, मोक्ष-मार्ग के सदृश, अनेक कठिनाइयों से भरा पड़ा है। भारत में समाज-सुधार के मित्र थोड़े और समालोचक बहुत हैं। समालोचकों की दो श्रेणियां हैं। एक श्रेणी तो राजनीतिक सुधारकों की है और दूसरी साम्यवाद की।

एक समय था जब सब कोई यह स्वीकार करता था कि सामाजिक निपुणता के बिना किसी भी दूसरे क्षेत्र में स्थायी उन्नति सम्भव नहीं। तब लोग यह भी मानते थे कि कुरीतियों

[illegible] होने के कारण ही अपना गुरु मान कर ले यह बात महाराष्ट्र के ब्राह्मण साधु रामदास, ने बहुत स्पष्ट कर दी है। यह वही रामदास है जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि शिवाजी ने उससे हिन्दू-राज्य स्थापित करने की अनुप्रेरणा पाई। अपने "दास बोध" में, जो मराठी कविता में एक धार्मिक-सामाजिक और राजनीतिक प्रबन्ध है, रामदास हिन्दुओं को सम्बोधन करके पूछता है, क्या किसी अन्त्यज को, उसके पंडित (विद्वान्) होने के कारण ही, हम अपना गुरु मान सकते हैं? और इसका उत्तर देता है कि नहीं। इन प्रश्नों के क्या उत्तर होने चाहिएं, यह बात मैं मण्डल पर छोड़ता हूँ। मण्डल को ही ठीक पता है कि अध्यक्ष चुनने के लिये वह क्यों बम्बई पहुँचा, उस मनुष्य को उसने क्यों चुना जो हिन्दुओं के लिए इतना अरुचिकर है, और वह इतना नीचे क्यों गिर गया कि उसने सवर्ण हिन्दुओं की सभा में बोलने के लिये एक अन्त्यज को एक अस्पृश्य को चुना। मेरी अपनी बात पूछो तो मैं कहूँगा कि मैंने अपनी और अपने अनेक अन्य अछूत भाइयों की इच्छा के विरुद्ध इस निमन्त्रणको स्वीकार किया है। मैं जानता हूँ कि हिन्दू मुझ से तंग आये हुये हैं। मैं जानता हूँ कि वे मेरे प्रति अनुग्रह-शील नहीं। यह सब जानते हुये मैंने जान बूझ कर अपने को उनसे पृथक रक्खा है। अपने आप को उन पर ठूंसने की मेरी कोई इच्छा नहीं है। कि मैं अपनी वेदी से अपने विचारों को प्रकट करता रहा हूँ। इससे पहिले ही बहुत सी ईर्ष्या और

राजनैतिक प्रगति चाहते हैं और समाज-सुधार के प्रति उदासीन हैं। कांग्रेस में भाग लेने वालों की संख्या बहुत अधिक होती थी। इस से सहानुभूति रखने वालों की संख्या उन से भी अधिक थी। परन्तु सोशल कान्फरेन्स में सम्मिलित होने वालों की संख्या इन से बहुत ही कम होती थी। जनता की इस उदासीनता के शीघ्र ही बाद राजनीतिज्ञों ने खुल्लमखुल्ला सामाजिक सम्मेलन का विरोध आरम्भ कर दिया। कांग्रेस पहले सामाजिक सम्मेलन के लिए अपना पण्डाल दिया करती थी। परन्तु अब श्री बाल गङ्गाधर तिलक के विरोध करने पर कांग्रेस ने अपना पण्डाल देना भी बन्द कर दिया। शत्रुता का भाव यहां तक बढ़ा कि जब सामाजिक सम्मेलन ने अपना अलग पण्डाल खड़ा करना चाहा, तो इसके विरोधियों ने उसे जला डालने की धमकी दे दी। इस प्रकार कालान्तर में राजनीतिक सुधार के पक्षपातियों का दल जीत गया और सामाजिक सम्मेलन (सोशल कान्फरेन्स) तिरोहित हो कर विस्मृत हो गया। सन् १८९२ में मि० डब्ल्यू० सी० बनर्जी इलाहाबाद में कांग्रेस के आठवें अधिवेशन के प्रधान हुए थे। उन्होंने उस समय जो भाषण दिया था, वह एक प्रकार से सोशल कान्फरेन्स का अन्त्येष्टि-भाषण था। आप के शब्द थे:—

'मैं उन लोगों के साथ सहमत नहीं हूँ जो कहते हैं कि जब तक हम अपनी सामाजिक पद्धति का सुधार नहीं करते, तब तक हम राजनीतिक सुधार के योग्य नहीं हो सकते। मुझे इन

तौर पर एक काला डोरा बांधना पड़ता था, ताकि हिन्दू उसे भूल से स्पर्श न कर बैठे। पेशवाओं की राजधानी पूना में अछूतों के लिए राजाज्ञा थी कि वे कमरे में झाड़ू बांध कर चलें। चलने से भूमि पर उन के पैरों के जो चिन्ह बनें, उनको उस झाड़ू से मिटाते जांय ताकि कोई हिन्दू उन पदचिन्हों पर पैर रखने से अपवित्र न हो जाय। पूना में अछूत को गले में मिट्टी की हांडी लटका कर चलना पड़ता था, ताकि उसे थूकना हो तो उस में थूके; क्योंकि भूमि पर थूकने से यदि उसके थूक पर किसी हिन्दू का पांव पड़ गया, तो वह अपवित्र हो जायगा।

अच्छा अब मैं अधिक नूतन घटनाएं लेता हूँ। मध्य भारत में बलाई नामकी एक अछूत जाति रहती है। हिन्दुओं द्वारा उस पर किये गये अत्याचार मेरा मतलब पूरा कर देंगे। उसका कुछ वर्णन ४ जनवरी १९२८ के "टाइम्ज आफ इण्डिया" में छपा था। पत्र के संवाददाता ने लिखा था कि सवर्ण हिन्दुओं ने अर्थात् कालोटों, राजपूतों और ब्राह्मणों ने जिनमें इन्दौर ज़िले के कनारिया, बिचोली हफसी, बिचोली मरदाना और लगभग १५ दूसरे गांवों के पटेल और पटवारी भी थे, अपने अपने गांव के बलाइयों को सूचना दी कि यदि तुम हम में रहना चाहते हो, तो तुम्हें निम्न-लिखित आज्ञायें माननी पड़ेंगी :—(१) बलाई ज़िलाई पगड़ी नहीं बाँधेंगे। (२) वे रङ्गीन या सुन्दर किनारे वाली धोतियां नहीं पहनेंगे। ३) वे किसी हिन्दू का मृत्यु-समाचार उसके संबन्धियों को पहुँचायेंगे, चाहे वे सम्बन्धी कितनी

ोनों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं दीखता।...क्या हम (राजनीतिक सुधार के लिए) इस लिए योग्य नहीं हैं, क्योंकि हमारी विधवाओं का पुनर्विवाह नहीं होता और दूसरे देशों की अपेक्षा हमारी लड़कियां छोटी उम्र में ब्याह दी जाती हैं ? या हमारी पत्नियां और पुत्रियां हमारे साथ गाड़ी में बैठ-कर हमारे मित्रों से मिलने नहीं जातीं ? या क्यों कि हम अपनी बेटियों को आक्सफोर्ड और केम्ब्रिज नहीं भेजते ? (हर्षध्वनि)।"

श्री० बेनर्जी ने राजनीतिक सुधार का जिस प्रकार समर्थन किया था वह मैंने ऊपर बता दिया। उस समय अनेक ऐसे लोग थे और अब भी हैं, जो इस विषय में काँग्रेस की जीत देख कर प्रसन्न थे। परन्तु जो लोग सामाजिक सुधार के महत्व में विश्वास रखते हैं, वे पूछ सकते हैं कि क्या मिस्टर बनर्जी की बात का कोई उत्तर नहीं ? क्या इससे सिद्ध होता है कि विजय उन्हीं की हुई, जो सच्चे थे ? क्या इस से पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि सामाजिक सुधार का राजनीतिक सुधार से कुछ सम्बन्ध नहीं ? आइये, तनिक इस दृष्टि से अछूतों के प्रति सवर्ण हिन्दुओं के व्यवहार पर विचार करें इस से इस विषय को समझने में सहायता मिलेगी।

पेशवाओं के शासन-काल में, महाराष्ट्र देश में, यदि को सवर्ण हिन्दू सड़क पर चल रहा हो तो अछूत को वहां चलने आज्ञा नहीं होती थी, ताकि कहीं उसकी छाया से वह हिन्दू भ्र न हो जाय। अछूत को अपनी कलाई पर या गले में निशानी

गुजरात के अन्तर्गत कविथा ग्राम की दुर्घटना अभी पिछले साल की ही बात है। कविथा के हिन्दुओं ने अछूतों को आज्ञा दी कि तुम गांव के सरकारी स्कूल में अपने बच्चों को भेजने का आग्रह मत करो। सवर्ण हिन्दुओं की इच्छा के विरुद्ध अपने नागरिक अधिकार के उपयोग करने का साहस करने के लिए बेचारे अछूतों को कितना कष्ट सहन करना पड़ा, यह सब कोई जानता है। इसका वर्णन करने की यहां आवश्यकता नहीं। गुजरात के अहमदाबाद जिले के जनू नामक गांव की एक घटना सुनिये। नवम्बर सन १६३५ में वहां के कुछ सुसम्पन्न अछूत परिवारों की स्त्रियों ने धातु के बासनों से पानी लाना शुरू किया अछूतों द्वारा धातु के बासनों के उपयोग को सवर्ण हिन्दुओं ने अपना अपमान समझा और अछूत स्त्रियों की ठिठाई के लिए उन पर हल्ला बोल दिया।

जयपुर राज्य के चकवारा गाँव की एक हाल की घटना है। समाचार पत्रों में जो रिपोर्ट छपी है उनसे प्रतीत होता है कि वहां के एक अछूत ने तीर्थ-यात्रा से लौट कर गांव के अछूत भाइयों को भोज देने का प्रबन्ध किया। उसने घी के पकवान बनाये। परन्तु जब अभी अछूत भाई भोजन कर ही रहे थे कि हिन्दू लोग लाठियां लिये हुए सैकड़ों की संख्या में वहां आ धमके। उन्हों ने उनके भोजन को खराब कर दिया और खानेवालों को पीटा। वे बेचारे जान बचाकर भाग गये। इन निहत्थे अछूतों पर यह घातक आक्रमण क्यों किया गया? इसका उत्तर यह दिया

दूर क्यों न रहते हों। (४) हिन्दुओं के विवाह में बरात के
गे आगे बलाई बाजा बजाते हुए चलेंगे। (५) बलाई स्त्रियां
ने-चांदी के गहने नहीं पहनेंगी, वे सुन्दर घांघरे और जाकेट
हीं पहनेंगी। (६) बलाई स्त्रियां हिन्दू स्त्रियों की प्रसूति में
नकी सेवा करेंगी। (७) बलाई हिन्दुओं की सेवा करेंगे और
नके लिये कोई पारिश्रमिक नहीं मांगेंगे; हिन्दू अपने आप जो
छ उन्हें दे दें, उसी पर वे सन्तुष्ट हो जांयगे। (८) यदि बला-
यों को ये शर्तें स्वीकार न हों, तो वे गांव छोड़ कर चले जायं।
लाईयों ने इन आज्ञाओंको मानने से इनकार कर दिया; और
न्दुओं ने उनका विरोध शुरू किया। बलाइयों को गांव के
ओं से पानी भरने और अपने पशु चराने से रोक दिया गया
लाइयों को हिन्दुओं की भूमि में से होकर जाने से मना कर
दया गया। इसलिये यदि बलाई के खेत के इर्द-गिर्द हिन्दुओं
 खेत हों, तो बलाई अपने खेत में नहीं जा सकता था। हिन्दुओं
 अपने पशु बलाइयों के खेतों में छोड़ दिये। बलाइयों ने
स अत्याचार के विरुद्ध इन्दौर-दरबार में आवेदन-पत्र दिये
रन्तु उनको ठीक समय पर सहायता न मिल सकी और अत्या-
चार उसी प्रकार जारी रहा। इसलिए सैकड़ों बलाइयों को, स्त्री-
च्चों सहित उन घरों को छोड़कर, जहां उनके बाप-दादा
पीढ़ियों से रहते आये थे, धार, देवास, बागली, भोपाल, ग्वालि-
यर और दूसरे निकटवर्ती राज्यों के गांवों में चला जाना पड़ा।
उनके नये घरों में उनके साथ कैसी बीती, इसका वर्णन करना
ठीक नहीं।

गुजरात के अन्तर्गत कविथा ग्राम की दुर्घटना अभी पिछले साल की ही बात है। कविथा के हिन्दुओं ने अछूतों को आज्ञा दी कि तुम गांव के सरकारी स्कूल में अपने बच्चों को भेजने का आग्रह मत करो। सवर्ण हिन्दुओं की इच्छा के विरुद्ध अपने नागरिक अधिकार के उपयोग करने का साहस करने के लिए बेचारे अछूतों को कितना कष्ट सहन करना पड़ा, यह सब कोई जानता है। इसका वर्णन करने की यहां आवश्यकता नहीं। गुजरात के अहमदाबाद जिले के जनू नामक गांव की एक घटना सुनिये। नवम्बर सन् १६३५ में वहां के कुछ सुसम्पन्न अछूत परिवारों की स्त्रियों ने धातु के बासनों में पानी लाना शुरू किया अछूतों द्वारा धातु क बासनों के उपयोग को सवर्ण हिन्दुओं ने अपना अपमान समझा और अछूत स्त्रियों की ठिठाई के लिए उन पर हल्ला बोल दिया।

जयपुर राज्य के चकवारा गॉव की एक हाल की घटना है। समाचार पत्रों में जो रिपोर्ट छपी है उनसे प्रतीत होता है कि वहां के एक अछूत ने तीर्थ-यात्रा से लौट कर गांव के अछूत भाइयों को भोज देने का प्रबन्ध किया। उसने घी के पकवान बनाये। परन्तु जब अभी अछूत भाई भोजन कर ही रहे थे कि हिन्दू लोग लाठियां लिये हुए सैकड़ों की संख्या में वहां आ धमके। उन्हों ने उनके भोजन को खराब कर दिया और खानेवालों को पीटा। वे बेचारे जान बचाकर भाग गये। इन निहत्ये अछूतों पर यह घातक आक्रमण क्यों किया गया? इसका उत्तर यह दिया

क्योंकि अछूत आतिथ्य-दाता ने घी के पकवान बनाने
ाई की थी और उसके अतिथियों ने अछूत होकर घी खाने
ता की थी। इस में सन्देह नहीं कि घी केवल धनी लोग
सकते हैं। परन्तु आज तक यह कोई भी नहीं समझता
घी खाना भी कोई बड़प्पन का निशान है। चकवारा के
हिन्दुओं ने प्रकट कर दिया कि अछूतों को घी खाने का
अधिकार नहीं, चाहे वे खरीद भी सकते हों, क्योंकि इस
न्दुओं की गुस्ताखी होती है। यह १ ली अप्रैल सन १६३६
सके लगभग की घटना है।

इन घटनाओं के वर्णन के बाद अब सामाजिक सुधार का
सुनिये। इसमें यथासंभव श्री बनर्जी की युक्ति का ही
सरण करते हुए राजनीतिक हिन्दुओं से पूछता हूँ—अछूतों
अपने देश की एक बड़ी श्रेणी को सार्वजनिक स्कूलों के
योग की आज्ञा न देते हुए भी क्या आप राजनीतिक शक्ति
के योग्य हैं? उनको सार्वजनिक कुओं के उपयोग की
ज्ञा न देते हुए भी क्या आप राजनीतिक शक्ति पाने के योग्य
? उनको सार्वजनिक बाजारों और गलियों का उपयोग करने
रोकते हुए भी क्या आप राजनीतिक शक्ति पाने के योग्य
? उनको अपनी पसन्द के अनुसार गहना और कपड़ा
हनने से रोकते हुए भी क्या आप स्वराज्य पाने के योग्य हैं?
नको उनकी पसन्द का भोजन करने से रोकते हुए भी क्या
आप राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के अधिकारी हैं? ऐसे ई

और बीसियों प्रश्न पूछे जा सकते हैं, परन्तु मेरे मतलब के लिए इतने ही पर्याप्त हैं। मालूम नहीं मिस्टर बनर्जी यदि आज जीते होते, तो उनके पास इनका क्या उत्तर होता। निश्चय ही कोई भी समझदार मनुष्य इनके उत्तर में 'हां' नहीं कह सकता। प्रत्येक कांग्रेसी मनुष्य को, जो मिलर साहब के इस सिद्धान्त की रट लगाता है कि एक देश दूसरे देश पर शासन करने में योग्य नहीं, यह भी मानना पड़ेगा कि एक श्रेणी दूसरी श्रेणी पर शासन करने के योग्य नहीं।

तब सामाजिक सुधार दल की हार कैसे हुई ? इस को ठीक ठीक समझने के लिए हमें इस बात पर ध्यान देने की जरूरत है कि उस समय सुधारक लोग किस प्रकार के सामाजिक सुधार के लिए आन्दोलन कर रहे थे। यहां यह बता देना अनावश्यक न होगा कि सामाजिक सुधार के दो अर्थ हैं। एक तो हिन्दू-परिवार का सुधार और दूसरा हिन्दू-समाज की पुनर्रचना और पुनः सङ्गठन। इन में से प्रथमोक्त का सम्बन्ध विधवा-विवाह, बाल-विवाह आदि से है और शेषोक्त का वर्ण-भेद के मिटाने के साथ। सोशल कान्फरेन्स एक ऐसी संस्था थी, जिसने अपना सम्बन्ध अधिकतर ऊंचे वर्ण के हिन्दू-परिवार के सुधार के साथ ही रखा था। इस में अधिकांश ऊंचे वर्णों के ही हिन्दू थे, जिन्हें वर्ण-भेद को मिटाने के लिए आन्दोलन करने की आवश्यकता का अनुभव ही न होता था या जिन में इस आन्दोलन को करने का साहस ही न था। उनको स्वभावतः लड़कियों की विधवा

ने पर सहमरण करने, बाल-विवाह आदि बुराइयों को दूर
करने की अधिक जरूरत मालूम होती थी, क्योंकि वे उन में
प्रचलित थीं और व्यक्तिगत रूप से उनको दुःख दे रही थीं। वे
हिन्दू-समाज के सुधार का यत्न नहीं करते थे। परिवार के
सुधार के प्रश्न पर ही सारा युद्ध हो रहा था। जात-पांत तोड़ने
के अर्थों में सामाजिक सुधार के साथ इसका कोई सम्बन्ध न
था। सुधारकों ने इस प्रश्न को कभी बीच में आने ही नहीं
दिया। यही कारण है, जिससे सामाजिक सुधार-दल हार गया

मैं जानता हूँ कि यह युक्ति इस तथ्य को नहीं बदल सकत
कि राजनीतिक सुधार सचमुच सामाजिक सुधार को पीछे हट
कर आप आगे आ गया। परन्तु इस युक्ति का यदि अधि
नहीं तो इतना मूल्य अवश्य है। यह इस बात को स्पष्ट क
देती है कि सामाजिक सुधार-दल क्यों हार गया। यह हमें इ
बात को समझने में भी सहायता देती है कि वह विजय कित
परिमित थी जो राजनीतिक सुधार-दल ने सामाजिक सुधार
पर प्राप्त की, और कि यह मत कि राजनीतिक सुधार के प
सामाजिक सुधार की आवश्यकता नहीं, एक ऐसा मत है
तभी खड़ा रह सकता है जब सामाजिक सुधार से अभिप्राय
परिवार के सुधार से हो।

समाज के पुनर्निर्माण के अर्थों में सामाजिक सुधार के पू
राजनीतिक सुधार सम्भव नहीं, इस बात का खण्डन करना कठि
है। साम्यवाद के जन्मदाता कार्ल मार्क्स के मित्र और सहका

फर्डिनेण्ड लसले जैसे विचारक को भी कहना पड़ा है कि राज-नीतिक विधान बनाने वालों को सामाजिक शक्तियों पर अवश्य विचार करना चाहिये। सन् १८६२ में प्रशियन श्रोताओं में भाषण करते हुये लसले (Lassalle) ने कहा था:—"वैधानिक प्रश्न (Constitutional questions) मुख्यतः अधिकार के प्रश्न नहीं, वरन् शक्ति के प्रश्न होते हैं। किसी देश की वास्त-विक शासन-पद्धति का अस्तित्व उस देश में पायी जाने वाली शक्तिकी वास्तविक दशा में ही होता है। इसलिये राजनीतिक विधानों का मूल्य और स्थिरता तभी होती है, जब वे समाज के भीतर व्यवहार में पाई जाने वाली शक्तियोंकी अवस्थाओं को ठीक ठीक प्रकट करते हैं।"

परन्तु प्रश्या जाने की आवश्यकता नहीं। हमें घर में ही इसकी साक्षी मिल जाती है। इस साम्प्रदायिक बंटवारे (कम्यू-नल अवार्ड) का क्या आशय है, जिसने राजनीतिक शक्ति को विभिन्न श्रेणियों और समाजों में निश्चित अनुपातों में बांट दिया है? मेरी राय में इसका आशय यही है कि राजनीतिक शासन-पद्धति को सामाजिक संगठन का अवश्य ध्यान रखना होगा। यह बंटवारा दिखलाता है कि जिन राजनीतिज्ञों ने इस भाव को मानने से इनकार कर दिया था कि भारत में सामाजिक प्रश्न का राजनीतिक समस्या से भारी सम्बन्ध है, उन्हें शासन विधान तैयार करने में सामाजिक प्रश्न के साथ भी हिसाब चुकाने पर विविश होना पड़ा। कहें तो कह सकते हैं कि साम्प्र-

दायिक बंटवारा सामाजिक सुधार की उपेक्षा और उसके प्रति उदासीनता दिखाने का फल है। यह सामाजिक सुधार-दल की विजय है, जो दिखलाती है कि यद्यपि वे हार गये थे, तो भी उनका सामाजिक सुधार की महत्ता पर जोर देना ठीक ही था। सम्भव है, अनेक सज्जन मेरे इस परिणाम के साथ सहमत नहीं होंगे। यह विचार लोगों में फैल रहा है और इसे मान लेने में आनन्द भी आता है कि साम्प्रदायिक बंटवारा अस्वाभाविक है और यह अल्प संख्याओं और नौकरशाही (bureaucracy) के बीच एक अपवित्र सन्धि है।

यदि आप कहें कि साप्रदायिक बंटवारा कोई अच्छा प्रमाण नहीं तो मैं अपनी बात के समर्थन के लिये प्रमाण के रूप में साम्प्रदायिक बंटवारे पर भरोसा रखना नहीं चाहता। आइये आयरलेंड को देखें। आयरलेंड के होम-रूल का इतिहास क्या दिखलाता है? सब कोई जानता है कि अल्स्टर के और दक्षिणी आयरलेंड के प्रतिनिधियों के बीच समय संधि की बात चल रही थी तब दक्षिणी आयरलेंड के प्रतिनिधि, श्री० रंडमण्ड ने समूचे आयरलेण्ड के लिये सामान्य एक होम-रूल शासन-पद्धति के भीतर अल्स्टर को लाने के उद्देश्य से, अलस्टर के प्रतिनिधियों से कहा था, "जो भी राजनीतिक संरक्षण आपको पसन्द हों मांगिए। वे सब आपको दिए जायेंगे।"

अल्स्टर वालों ने क्या उत्तर दिया? "भाड़ में जायं तुम्हारे ——— हम किसी भी शर्त पर तुम्हारे द्वारा शामिल होना नहीं

चाहते।" जो लोग भारत में अल्पसंख्याओं को दोष देते हैं उन्हें सोचना चाहिये कि यदि अल्प-सख्यायें वही भाव ग्रहण कर लेतीं जो अल्स्टर ने किया था तो बहुसंख्या की राजनीतिक आकांक्षाओं की क्या गति होती ?

आयरिश होम-रूल के प्रति अल्स्टर का जो भाव था उस की दृष्टि से विचार करने पर, क्या यह बात तुच्छ है कि अल्पसंख्याओं ने बहुसंख्या द्वारा शासित होना स्वीकार कर लिया है ? परन्तु बहुसंख्या ने राजनीतिज्ञता का कोई अच्छा परिचय नहीं दिया, यदि अल्पसंख्याओं के लिये कुछ संरक्षण सोचे गये थे। परन्तु यह केवल एक नैमित्तिक बात है। मुख्य प्रश्न यह है कि अल्स्टरने ऐसा भाव क्यों ग्रहण किया ? इसका एक मात्र उत्तर जो मैं दे सकता हूँ वह यह है कि अल्स्टर और दक्षिणी आयरलैंड के बीच सामाजिक प्रश्न था। यह प्राटेस्टेण्टों और कैथालिकों के बीच प्रश्न था। यह मूलतः जात-पांत का प्रश्न था। अल्स्टर वाले उत्तर देते थे कि आयरलैंड में होम-रूल (स्वराज्य) का अर्थ रोम रूल (रोम का राज्य) होगा। परन्तु यह दूसरे शब्दोंमें यही बात है कि यह प्राटेस्टेण्टों और कैथालिकों के बीच जात-पांत की सामाजिक समस्या थी, जो राजनीतिक समस्या को सुलझने नहीं देती थी। निश्चय ही प्रमाण पर भी आपत्ति की जायगी। कहा जायगा कि यहां भी साम्राज्यवादी का हाथ काम कर रहा था। परन्तु मेरा भी कोष चुक नहीं गया है। मैं रोम के इतिहास से प्रमाण दूंगा। यहां कोई नहीं कह

समस्याओं का राजनीतिक विधानों के साथ संबन्ध रहता है मैंने जो उदाहरण दिये हैं वे बहुत असाधारण प्रतीत होते हैं। शायद वे हैं भी। परन्तु यह नहीं मान लेना चाहिये कि एक का दूसरे के साथ परिमित सम्बन्ध है। इसके विपरीत हम कह सकते हैं कि इतिहास इस सिद्धान्त का समर्थन करता है कि सामाजिक एवं धार्मिक क्रान्तियों के बाद ही राजनीतिक क्रान्तियां होती हैं।

लूथर द्वारा जारी किया हुआ धार्मिक संस्कार योरोपियन लोगों के राजनीतिक उद्धार का पूर्व लक्षण था। इंग्लैण्डमें प्यूरीटिनिज्म (Puritinism) राजनीतिक स्वतन्त्रता की स्थापना का कारण हुआ। प्यूरीटिनिज्म ने नये संसार की नींव रक्खी। प्यूरीटिनिज्म ने ही अमेरिकन स्वतन्त्रता का युद्ध जीता। यह प्यूरीटिनिज्म एक धार्मिक आन्दोलन था। यही बात मुसलिम साम्राज्य के विषय में भी सत्य है। अरबों के राजनीतिक शक्ति बनाने के पहले, हजरत मुहम्मद उनमें एक पूर्ण धार्मिक क्रान्ति उत्पन्न हो कर चुके थे। भारतीय इतिहास भी इस परिणाम का समर्थन करता है। चन्द्रगुप्त की चलायी हुई राजनीतिक क्रान्ति से बहुत पहले भगवान् बुद्ध धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति पैदा कर चुके थे। महाराष्ट्र के साधु-महात्माओं द्वारा सामाजिक और धार्मिक सुधार के बाद ही शिवाजी राजनीतिक क्रान्ति ला सके थे। सिक्खों की राजनीतिक क्रान्ति के पूर्व गुरु नानक सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति पैदा कर चुके थे। और अधिक उदाहरण

देने की आवश्यकता नहीं। यह दिखाने के लिये इतने ही उदाहरण पर्याप्त हैं कि किसी जाति के राजनीतिक विस्तार के लिये उसकी आत्मा और बुद्धि का उद्धार होना परम आवश्यक है।

[३]

साम्यवाद और वर्ण-भेद

अच्छा, अब मैं साम्यवादियों को लेता हूं। क्या साम्यवादी लोग सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न होने वाली समस्या की उपेक्षा कर सकते हैं? भारत के साम्यवादी योरोप के साम्यवादियों का अनुकरण करते हुए, भारत की समस्याओं पर इतिहास की आर्थिक व्याख्या का प्रयोग करने का यत्न कर रहे हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य एक आर्थिक प्राणी है, उसकी चेष्टाएं और आकांक्षाएं आर्थिक तथ्यों से बंधी हुई हैं। उनके मत से सम्पत्ति ही एक मात्र शक्ति है। इसलिए वे प्रचार करते हैं कि राजनीतिक और सामाजिक सुधार भारी भ्रम मात्र हैं, और किसी भी दूसरे सुधार के पूर्व साम्पत्तिक समता द्वारा आर्थिक सुधार का होना परमावश्यक है। जिन बातों का आधार लेकर साम्यवादी लोग कहते हैं कि किसी भी प्रकार के दूसरे सुधारों के पूर्व आर्थिक सुधार होना आवश्यक है, उनमें से प्रत्येक का खण्डन किया जा सकता है। क्या एक मात्र आर्थिक उद्देश्य से ही मनुष्य सब काम करता है? साम्पत्तिक शक्ति ही एक मात्र शक्ति है, इस बात को मानव-समाज का अध्ययन करने वाला कोई भी मनुष्य मानने को तैयार नहीं।

साधु-महात्माओं का सर्वसाधारण पर जो शासन होता है,* वह इस बात को स्पष्ट कर देता है कि व्यक्ति की सामाजिक स्थिति भी बहुधा शक्ति और अधिकार का कारण बन जाती है। भारत में करोड़ों लोग कङ्गाल साधुओं और फकीरों की आज्ञा क्यों मानते हैं ? भारत में करोड़ों कङ्गाल अपना अंगूठी-छल्ला वेच कर भी काशी और मक्का क्यों जाते हैं ? भारत का इतिहास दिखलाता है कि मजहब एक बड़ी शक्ति है। भारत में सर्व साधारण पर पुरोहित का शासन मजिस्ट्रेट से भी दृढ़ कर होता है। यहां प्रत्येक बात को, यहां तक कि हड़तालों और कौंसिलों के चुनाव को भी, बड़ी आसानी से मजहबी रङ्गत मिल जाती है। मजहब का मनुष्य पर कितना प्रभुत्व रहता है, इसका एक उदाहरण रोम के प्लीबियन हैं। उनके उदाहरण से इस विषय पर बड़ा भारी प्रकाश पड़ता है। रोमन प्रजातन्त्र के अधीन उच्च शासनाधिकार में भाग प्राप्त करने के लिये प्लब लोगों ने युद्ध किया था, जिससे उनको एक प्लीबियन प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिल गया था। इस प्रतिनिधि को प्लीबियनों की कोमिटिया सेण्टूरिएटा नाम की एक समिति चुनती थी। वे अपना कौंसिल (प्रतिनिधि) इस लिए चाहते थे क्योंकि वे अनुभव करते थे कि पेटरीशियन कौंसिल शासन-कार्यमें प्लीबियनों के साथ द्वैतभाव रखते हैं। बाहर से देखने पर उन्हों ने बड़ा लाभ प्राप्त कर लिया था, क्योंकि रोम [illegible]
में एक कौंसिल को दूसरे [illegible] देने का

धिकार था। परन्तु क्या यह वास्तव में भी उनको कुछ लाभ ? इसका उत्तर नकार में है। प्लीबियन लोगों को कभी कोई ता प्लीबियन प्रतिनिधि न मिल सका, जिसे बलवान् मनुष्य ा जा सकता और जो पेटरीशियन प्रतिनिधि से स्वतन्त्र रह : कार्य कर सकता। साधारण रीति से प्लीबियनों को एक बलवान् प्लीबियन प्रतिनिधि मिलना चाहिए था, क्योंकि उसका नाव प्लीबियन लोग खुद अपने में से करते थे। प्रश्न यह है ; उनको कभी कोई बलवान् प्लीबियन क्यों न मिल सका, । उनका प्रतिनिधित्व करता ? इस प्रश्न का उत्तर प्रकट करता कि धर्म का मनुष्यों के मन पर कितना शासन है।

समूची रोमन जनता का यह सर्वसम्मत विश्वास था कि कोई ो अफ़सर तब तक किसी पद को ग्रहण नहीं कर सकता, जब क कि डेल्फी की देव-वाणी इस बात की घोषणा न कर दे कि वी उसको स्वीकार करती है। डेल्फी की देवी के पुरोहित सब टरीशियन थे। इसलिए जब कभी प्लीबियन ऐसे मनुष्य को तिनिधि बनाते थे, जिसके विषय में पता हो कि यह पेटरीशियन विरुद्ध कट्टर पार्टीमैन, या भारत में प्रचलित परिभाषा में कम्यूनल" (साम्प्रदायिक) है, तो देव-वाणी सदा विघोषित कर ती थी कि देवी उसे स्वीकार नहीं करती। इस प्रकार धोखे से ीबियनों के अधिकार छीन लिये जाते थे। परन्तु ध्यान देने की ात यह है कि प्लीबियन लोग अपने साथ यह ठगी इसलिये ाने देते थे कि पेटरीशियनों की तरह उनका अपना भी दृढ़

विश्वास था कि किसी अफसर के अपने पद का कार्य संभालने के पहले देवी की स्वीकृति आवश्यक है, लोगों द्वारा उसका चुना जाना ही पर्याप्त नहीं। यदि प्लीबियन इस बात पर लड़ते कि चुनाव ही पर्याप्त है, देवों की स्वीकृति की कोई आवश्यकता नहीं, तो वे अपने प्राप्त किये हुए राजनीतिक अधिकारों से पूरा-पूरा लाभ उठा लेते। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे दूसरा प्रतिनिधि चुनने पर सहमत हो जाते थे, जो उनके अपने मतलब के लिये तो कम, परन्तु देवी के लिये अधिक योग्य होता था, अर्थात् जो वास्तव में पेटरिशियनों का अधिक आज्ञाकारी होता था। धर्म का छोड़ना के बदले प्लीबियनों ने उस लौकिक लाभ को छोड़ दिया, जिसके लिये उन्होंने इतना घोर संग्राम किया था। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि धर्म में यदि सम्पत्ति से अधिक नहीं तो उसके बराबर तो शक्ति अवश्य है?

साम्यवादियों की भूल इस बात में है कि वे मान लेते हैं कि क्योंकि योरपीय समाज की वर्तमान अवस्था में धन एक प्रधान शक्ति है, इसलिये भारत में भी वह प्रधान शक्ति है या अतीत काल में भी वह प्रधान शक्ति थी। धर्म, सामाजिक स्थिति और सम्पत्ति, ये सब शक्ति और प्रभुता के स्रोत हैं। इन से एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की स्वतन्त्रता का निग्रह करता है। एक का एक अवस्था में प्राधान्य रहता है, दूसरी का दूसरी अवस्था में। बस, इतना ही अन्तर है। यदि स्वाधीनता आदर्श है और यदि उस स्वाधीनता का अर्थ उस प्रभुता का नाश

, जो एक मनुष्य दूसरे मनुष्य पर रखता है, तब यह
पष्ट है कि इस बात पर आग्रह नहीं किया जा
सकता कि आर्थिक सुधार ही एक मात्र ऐसा सुधार
है, जो करने के योग्य है। यदि किसी विशेष समय में या किसी
विशेष समाज में शक्ति और प्रभुता सामाजिक और धार्मिक हो
तो सामाजिक सुधार तथा धार्मिक सुधार को आवश्यक सुधार
मानना पड़ेगा।

इस प्रकार भारत के साम्यवादियों न जो इतिहास का
आर्थिक अर्थ ग्रहण किया है, इसका खण्डन हो सकता है। पर-
न्तु मैं स्वीकार करता हूं कि साम्यवादियों के इस विवाद की
दृढ़ता से लिए कि सम्पत्ति का समीकरण ही एक मात्र वास्तविक
सुधार है और यही सब से पहले होना चाहिए, इतिहास का
आर्थिक अर्थ आवश्यक नहीं। परन्तु मैं साम्यवादियों से जो
बात पूछना चाहता हूँ वह यह है—क्या पहले सामाजिक व्यव-
स्था का सुधार किये बिना आप आर्थिक सुधार कर सकते हैं?
ऐसा जान पड़ता है कि भारत के साम्यवादियां ने इस प्रश्न पर
विचार नहीं किया। मैं उन के साथ अन्याय नहीं करना चाहता।
मैं यहाँ आगे एक चिट्ठी से उद्धरण देता हूँ जो एक प्रमुख साम्य-
वादी ने, कुछ मास हुए, मेरे एक मित्र को लिखी थी। उस में
उन्होंने लिखा था—"मेरा विश्वास नहीं कि हम भारत में तब
तक किसी स्वतन्त्र समाज का निर्माण कर सकते हैं, जब तक
कि एक श्रेणी दूसरी श्रेणी के प्रति इस प्रकार का दुर्व्यवहार

करती और उसे दबाती है। साम्यवादी आदर्श में मेरा विश्वास है इसलिए विभिन्न श्रेणियों और समूहों के व्यवहारमें पूर्ण समता में मेरा विश्वास होना अनिवार्य है। मेरी समझ में साम्यवाद ही इस और दूसरी समस्याओं का सच्चा उपाय पेश करता है।"

अब मैं पूछना चाहता हूँ—"क्या साम्यवादी के लिए इतना कह देना ही पर्याप्त है—"मैं विभिन्न श्रेणियों के परस्पर व्यवहार में पूर्ण समता में विश्वास करता हूँ ?" यह कहना कि ऐसा विश्वास ही पर्याप्त है, साम्यवाद के आशय से अपनी पूरी अज्ञता प्रकट करना है। यदि साम्यवाद एक व्यावहारिक कार्यक्रम है और एक दूर का आदर्श मात्र नहीं, तो साम्यवादी के लिए यह प्रश्न नहीं रहता कि वह समता में विश्वास करता है या नहीं। उसके लिए प्रश्न यह है कि क्या वह एक व्यवस्था के तौर पर, एक सिद्धान्त के रूप में, एक श्रेणी के दूसरी श्रेणी के प्रति दुर्व्यवहार और उसे दबाने की परवाह करता है, और इस प्रकार अत्याचार और शरारत को एक श्रेणी को दूसरी श्रेणी से अलग करते रहने की आज्ञा देता है ? अपनी बात को पूरी तरह से खोल कर समझाने के लिये मैं उन बातों का विश्लेषण करना चाहता हूँ, जिनका कि साम्यवाद की सिद्धि के साथ साथ सम्बन्ध है।

यह बात स्पष्ट है कि जो आर्थिक क्रान्ति साम्यवादी लोग लाना चाहते हैं, वह तब तक नहीं आ सकती, जब तक कि किसी

क्रान्ति के द्वारा शक्ति हाथ में न ले ली जाय। उस शक्ति को हथियाने वाला जरूरी तौर पर सर्वहारा मनुष्य (Proletariat) होगा। तब पहला प्रश्न यह होता है—क्या भारत का सर्वहारा ऐसी क्रान्ति लाने के लिए इकट्ठा हो जायगा? इस कार्य के लिए कौन बात उस को प्रेरणा करेगी? मुझे ऐसा जान पड़ता है कि दूसरी बातें बराबर मान कर, एक मात्र चीज जो मनुष्य को ऐसा काम करने की प्रेरणा कर सकती है, वह यह भाव है कि जिन दूसरे मनुष्यों के साथ मिल कर वह काम कर रहा है वे, समता, बन्धुता और सब से बढ़ कर न्याय के भाव से प्रेरित हो कर काम कर रहे हैं। सम्पत्ति के समीकरण के लिए लोग किसी क्रान्ति में तब तक सम्मिलित नहीं होंगे, जब तक उन्हें यह मालूम नहीं होगा कि क्रान्ति हो चुकने के बाद उन के साथ समता का व्यवहार होगा और जात-पाँत और सम्प्रदाय का कोई भेद नहीं रक्खा जायगा। क्रान्ति के नेता बनने वाले साम्यवादी का यह विश्वास दिलाना कि मैं जाति-भेद को नहीं मानता, पर्याप्त नहीं होगा। इस आश्वासन का आधार बहुत अधिक गहरा होना चाहिए, अर्थात् इस का परिचय व्यक्तिगत समता और बन्धुता की दृष्टि से एक दूसरे के प्रति देश-बन्धुत्व के मानसिक भाव से मिलना चाहिए। क्या कोई कह सकता है कि भारत की सर्व साधारण जनता, निर्धन होते हुए भी, धनी और निर्धन के भेद के सिवा और किसी भेद को नहीं मानती? क्या कोई कह सकता है कि भारत की निर्धन जनता जात-पाँत

का, ब्राह्मण और शूद्र का, ऊंच और नीच का भेद नहीं मानती ? यदि सचाई यह है कि वह मानती है, तो ऐसी जनता से धनवानों का विरोध करने के लिए इकट्ठे हो जाने की क्या आशा की जा सकती है ? यदि श्रमजीवी श्रेणी के लोग (Proletariat) इकट्ठे हो कर विरोध नहीं कर सकते तो ऐसी क्रान्ति कैसे सम्भव हो सकती है ? युक्ति के लिए मान लीजिए कि भाग्य की चपलता से ऐसी क्रान्ति हो जाती है, और साम्यवादियों के हाथ में शक्ति आजाती है, तो क्या उन्हें भारत में प्रचलित विशेष सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न होने वाली समस्याओं से निबटना नहीं पड़ेगा ? मैं नहीं समझता भारत में साम्यवादी-शासन जनता में ऊंच-नीच और स्पृश्य अस्पृश्य का भेद-भाव उत्पन्न करने वाले पक्षपातों से पैदा हुई समस्याओं के साथ युद्ध किए बिना एक क्षण के लिये भी कैसे चल सकता है।

यदि साम्यवादियों को केवल ललित वाक्यावली का उच्चारण करने पर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना है, यदि साम्यवादी साम्यवाद को एक निश्चित वस्तु बनाना चाहते हैं, तब उन्हें यह जरूर मानना पड़ेगा कि सामाजिक सुधार की समस्या सब का मूल है और वे उस पर आंख बन्द नहीं कर सकते। भारत में प्रचलित सामाजिक व्यवस्था एक ऐसी बात है, जिस के साथ साम्यवादी को अवश्य निबटना पड़ेगा; जब तक वह इस के साथ नहीं निबटेगा, वह क्रान्ति उत्पन्न नहीं कर सकता; और

यदि सौभाग्य से उसे क्रान्ति उत्पन्न करने में सफलताभी प्राप्त हो जाय तो भी, यदि वह अपने आदर्श को सिद्ध करना चाहता है, उसे इस के साथ लड़ना पड़ेगा। यदि वह क्रान्ति के पहले ऊंच-नीच-मूलक वर्ण-व्यवस्था पर विचार करने को तैयार नहीं तो क्रान्ति के बाद उसे इस पर विचार करना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में हम यही बात यों कह सकते हैं कि आप किसी भी ओर मुंह कीजिए, वर्ण-भेद एक ऐसा राक्षस है, जो सब ओर आप का मार्ग रोके पड़ा है। जब तक आप इस राक्षस का वध नहीं करते, आप न राजनीतिक सुधार कर सकते हैं और न आर्थिक सुधार।

[४]
श्रम की महत्व-हानि

खेद का विषय है कि आज भी वर्ण-भेद के समर्थक पाए जाते हैं। इसके समर्थन में वे अनेक युक्तियां देते हैं। वे कहते हैं कि वर्ण-भेद केवल श्रम-विभाग का दूसरा नाम है, और यदि प्रत्येक सभ्य समाज के लिए श्रम-विभाग आवश्यक है, तो फिर वर्ण-भेद से कुछ भी हानि नहीं। इस मत के खण्डन में पहली बात यह है कि वर्ण-भेद केवल श्रम-विभाग नहीं। यह साथ ही श्रमिक-विभाग भी है। निरसन्देह सभ्य समाज को श्रम-विभाग की आवश्यकता है। परन्तु किसी भी सभ्य समाज में श्रम-विभाग के साथ साथ, हिन्दू समाज की तरह, श्रमिकों का भी अस्वा-

भाविक विभाग नहीं पाया जाता। वर्ण-भेद केवल श्रमिक विभाग ही नहीं—जो कि श्रम-विभाग से एक सर्वथा भिन्न चीज़ है—वरन यह एक ऐसा श्रेणीबद्ध समाज है, जिसमें श्रमिकों के विभागों को एक दूसरे के ऊपर क्रम से रखा गया है। किसी भी दूसरे देश में श्रम-विभाग के साथ साथ श्रमिकों का यह क्रम-विन्यास नहीं।

वर्ण-भेद सम्बन्धी इस दृष्टिकोण के विरुद्ध एक तीसरी आपत्ति भी है। यह श्रम-विभाग स्वयंजात नहीं, इसका आधार स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ नहीं। सामाजिक और व्यक्तिगत योग्यता चाहती है कि व्यक्ति की समझ को विकसित करके इस योग्य बना दिया जाय कि वह अपने लिये स्वयं व्यवसाय चुन सके। वर्ण-भेद में इस नियम को भङ्ग किया गया है, क्योंकि इसमें व्यक्तियों के लिये ये काम उनकी हुई मौलिक योग्यताओं के आधार पर नहीं, वरन माता पिता की सामाजिक स्थिति के आधार पर चुने जाते हैं। एक दूसरे दृष्टिकोण से देखने पर व्यवसायों का यह स्तर-विन्यास, जो वर्ण-भेद का परिणाम है, निश्चित रूप से घातक है।

उद्योग-धन्धा कभी एक ही दशा में स्थिर रहने वाली वस्तु नहीं। इसमें अचानक और द्रुत परिवर्तन होते हैं। ऐसे परिवर्तनों के साथ व्यक्ति के लिये अपना व्यवसाय बदलने की स्वतन्त्रता अवश्य होनी चाहिए यदि उसे बदलती हुई अवस्थाओं के अनुकूल अपने को बनाने की यह स्वतंत्रता

होगी तो उसके लिये रोटी कमाना असंभव हो जायेगा। अब
र्ण भेद हिन्दुओं को वे व्यवसाय ग्रहण करने नहीं देता जहां
की आवश्यकता है, यदि वंश-परम्परा से वे व्यवसाय उनके
हीं। यदि आप किसी हिन्दू को देखें कि वह भूखों मर रहा है
न्तु किसी ऐसे नये व्यवसाय को ग्रहण नहीं करता जो उस
वर्ण के लिये निर्धारित नहीं, तो उसका कारण आपको वर्ण-
वस्था में मिलेगा। व्यवसायों को बदलने की अनुमति न देने
वर्ण-व्यवस्था देश में पाई जाने वाली बहुत सी बेकारी का
त्यक्ष कारण बन गई है। वर्ण-भेद को एक प्रकार का श्रम-
भाग मानने में एक और भयानक दोष है. वर्ण-व्यवस्था ने
श्रम-विभाग उत्पन्न किया है उसका आधार चुनाव नहीं
हले से ही काम नियत करने का यत्न पाया जाता है।

व्यक्ति की अपनी भावना और व्यक्ति की अपनी पसन्द को
समें कोई स्थान नहीं। इसका आधार भवितव्यता का सिद्धान्त
। हमें इस बात को स्वीकार करने पर विवश होना पड़ेगा
क औद्योगिक पद्धति में सबसे बड़ी बुराई उतनी इस से पैदा
ोने वाली दरिद्रता और कष्ट नहीं, जितनी कि यह बात कि बहुत
लोग ऐसे कामों में लगे हुए हैं जिनमें उनको कोई रुचि नहीं
ऐसे काम निरन्तर उन में घृणा, दुर्भाव और उनका परित्याग
रने की लालसा उत्पन्न किया करते हैं। भारत में अनेक ऐसे
व्यवसाय हैं, जो हिन्दुओं द्वारा नीच समझे जाने के कारण उन
लोगों में, जो उन को कर रहे हैं, उनसे विरक्ति उत्पन्न करते हैं

वे लोग सदा यही चाहते हैं कि हम इन कामों को छोड़ दें और इन को न करें। कारण यह है कि हिन्दू-समाज ने इन व्यवसायों पर कलङ्कित और तिरस्कृत होने का टीका लगा रखा है। इसलिये इनको करने वाले लोग भी तिरस्कृत होते हैं। वह काम क्या उन्नति कर सकता है, जिसके करने वालों के न मन और न हृदय उस काम में लगते हैं? इसलिये आर्थिक सङ्गठन के रूप में वर्ण-भेद एक हानिकारक संस्था है, क्योंकि यह मनुष्य की प्राकृतिक शक्तियों और प्रवणताओं को सामाजिक नियमों की आकस्मिक आवश्यकताओं के अधीन कर देता है।

[५]

जीवतत्वशास्त्र और वर्णभेद

वर्ण-भेद-रूपी दुर्ग की रक्षा के लिए कुछ लोग जीवतत्व-विज्ञान की खाई तैयार किये बैठे हैं। वे कहते हैं कि वर्ण-भेद का उद्देश्य रक्त की पवित्रता और वंश की विशुद्धता को बनाये रखना था। अब मानव-वंश-विज्ञान के पण्डितों का मत है कि विशुद्ध वंश के मनुष्य कहीं भी नहीं पाये जाते; संसार के सभी भागों में सभी वंशों की आपस में मिलावट हो गयी है श्रीयुत डी० आर० भाण्डारकर ने अपने "हिन्दू प्रजा में विदेशी तत्व" (Foreign Elements in the Hindu Population) नामक लेख में कहा है कि "भारत में शायद ही कोई श्रेणी जिस में विजातीय अंश न

लड़ाकू श्रेणियों-राजपूत और मराठों में ही है, वरन् ब्राह्मणों में भी है, जो कि इस धोखे में हैं कि हम में कोई विजातीय रक्त नहीं मिला।"

यह नहींकहा जा सकता कि वर्ण-भेद वंश के मिश्रण को रोकने या रक्त की शुद्धता को बनाये रखने का साधन था। सचाई यह है कि वर्ण-भेद भारत की भिन्न-भिन्न जातियों के रक्त और संस्कृति के आपस में मिश्रित हो जाने के बहुत देर बाद प्रकट हुआ था। यह समझना कि वर्णों का भेद वास्तव में वंशों का भेद है और विभिन्न वर्णों को उतने ही विभिन्न वंश या कुल समझना सच्ची बातों को बहुत बुरी तरह से बिगाड़ना है। पञ्जाब के ब्राह्मणों में और मद्रास के ब्राह्मणों में क्या वंश-सम्बन्ध है ? बङ्गाल के अस्पृश्यों में और मद्रास के अस्पृश्यों में वंश (race) का क्या रिश्ता है ? पञ्जाब के ब्राह्मणों में और पञ्जाब के चमारों में क्या वंश-भेद है ? मद्रास के ब्राह्मणों में और मद्रास के परिया में वंश की क्या भिन्नता है ? पञ्जाब का ब्राह्मण वंश की दृष्टि से उसी जाति से है, जिसका कि पञ्जाब का चमार और मद्रास का ब्राह्मण उसी वंश का है, जिसका कि मद्रास का परिया या अछूत।

वर्ण-भेद वंश विभाग को नहीं दिखलाता। वर्ण-भेद एक ही वंश के लोगों का सामाजिक विभाग है। परन्तु इसे वंश विभाग मान कर भी प्रश्न उत्पन्न होता है—यदि विभिन्न वर्णों के बीच अन्तर्वर्णीय विवाहों द्वारा भारत में रक्त और वर्णों का मिश्रण

हो लेने दिया जाता तो इस से क्या हानि हो सकती थी? निस्सन्देह मनुष्य और पशु में इतना गहरा भेद है कि विज्ञान मनुष्यों और पशुओं को दो अलग अलग वर्ग मानता है। परन्तु वैज्ञानिक भी—जो वंशों की शुद्धता में विश्वास रखते हैं—यह नहीं कहते कि भिन्न भिन्न वंश (races) मनुष्यों के भिन्न भिन्न वर्ग (species) हैं। वे एक ही वर्ग के प्रकार-मात्र हैं। ऐसा होने से वे एक दूसरे में सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं और उनकी सन्तान बांझ नहीं होती, वरन् आगे बच्चे पैदा कर सकती है।

वर्ण भेद के समर्थन में वंश-परम्परा (heredity और सुप्रजनन-शास्त्र (Eugenics) को लेकर बहुत सो मूर्खता-पूर्ण बातें कही जाती हैं। यदि-वर्ण भेद सुप्रजनन शास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों के अनुसार हो, तो बहुत थोड़े लोग इस पर आपत्ति करेंगे, क्योंकि विवेक-पूर्वक जोड़े मिला कर वंश को सुधारने पर बहुत थोड़े मनुष्य आपत्ति कर सकते हैं। परन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि वर्ण-भेद से सविवेक विवाह कैसे होते हैं। वर्ण-भेद एक ऋणात्मक वस्तु है। यह विभिन्न वर्णों के लोगों को आपस में विवाह करने से केवल रोकता है। किसी एक वर्ण में से कौन दो आपस में विवाह करें, इसके चुनावकी यह कोई निश्चित रीति नहीं है। यदि वर्ण का मूल सुप्रजनन-शास्त्र है, तो उपवर्णों का मूल भी सुप्रजनन ही होना चाहिए। परन्तु क्या कोई व्यक्ति गम्भीरतापूर्वक इस बात का प्रतिपादन कर सकता है कि वर्णों के अवान्तर भेदों का मूल भी सुप्रजनन-शास्त्र

अर्थात् सुन्दर सन्तान उत्पन्न करने का विज्ञान है ? ऐसी बात को सिद्ध करने का यत्न करना बिलकुल बेहूदगी होगा। यदि वर्ण से तात्पर्य वंश से है, तो उपवर्णों के प्रभेदों का अर्थ वंश के प्रभेद नहीं हो सकता, क्योंकि तब उपवर्ण एक ही वंश के उप-विभाग हो जाते हैं। फलतः उपवर्णों में परस्पर रोटी-बेटी-सम्बन्ध की। रुकावट वंश या रक्त की पवित्रता को बनाये रखने के उद्देश्य से नहीं हो सकती। यदि वर्ण के अवान्तर-भेदों का आधार सुप्रजनन-शास्त्र नहीं हो सकता, तो इस विवाद में भी कोई तथ्य नहीं हो सकता कि वर्णों का मूल सुप्रजनन शास्त्र है।

फिर यदि वर्ण-भेद का मूल सुप्रजनन हो, तो अन्तर्वर्णीय विवाह की रुकावट समझ में आसकती है। परन्तु वर्णों और उन के अवान्तर-भेदों के परस्पर सहभोज पर जो रुकावट लगाई गई है, उसका क्या उद्देश्य है ? सहभोज रक्त में छूत का सञ्चार नहीं कर सकता। इसलिए उससे न वंश का सुधार होता है और न बिगाड़। इससे पता लगता है कि वर्ण-भेद का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं। जो लोग इसका आधार सुप्रजनन को जताना चाहते हैं, वे उस बात का विज्ञान द्वारा समर्थन करने की चेष्टा कर रहे हैं, जोकि सर्वथा अवैज्ञानिक है। जब तक हमें वंश-परम्परा के नियमों का सुनिश्चित ज्ञान न हो, आज भी सुप्रजनन-शास्त्र क्रियात्मक रूप से सम्भव नहीं हो सकता। प्रोफेसर) बेटसन अपनी पुस्तक ("Mendel's Principles of Heredity" में कहते हैं:—बाप से बेटे में उच्चतर मानसिक गुणों के जाने में

कोई भी ऐसी बात नहीं, जिससे यह कहा जा सके कि वे प्रेषण की किसी एक पद्धति का अनुसरण करते हैं। अधिक सम्भव यह है कि ये गुण और शारीरिक शक्तियों की अधिक निर्दिष्ट वृद्धियाँ दोनों किसी उत्पत्तिसम्बन्धी तत्व की विद्यमानता की अपेक्षा बहुसंख्यक हेतुओं के सन्निपतन का अधिक परिणाम होती हैं।"

यह कहना कि वर्ण व्यवस्था सुप्रजनन-शास्त्र के अनुसार बनाई गई थी, दूसरे शब्दों में यह मान लेना है कि वर्तमान काल के हिन्दुओंके पूर्वजों को वंश-परम्परा (Heredity) का ज्ञान था, जोकि आधुनिक वैज्ञानिकों को भी नहीं है। वृक्ष अपने फल से पहिचाना जाता है। यदि वर्ण-भेद सुप्रजनन (Eugenics) है, तो इसने किस प्रकार की नस्ल पैदा की है? शारीरिक रूप से हिन्दू ठिगनों और बौनों की जाति है, जिनका न कद है और न बल। यह एक ऐसी जाति है, जिसका $\frac{9}{10}$ वां भाग सैनिक सेवा के अयोग्य ठहराया जा चुका है। इससे पता लगता है कि वर्ण व्यवस्था में आधुनिक वैज्ञानिकों के सुप्रजनन-शास्त्र का कुछ भी आधार नहीं। यह एक ऐसी सामाजिक पद्धति है, जिसमें हिन्दुओं के एक दुष्ट समाज का घमण्ड और स्वार्थपरता भरी पड़ी है। इन दुष्ट लोगों की सामाजिक स्थिति इतनी ऊंची थी और इनको ऐसा अधिकार प्राप्त था कि जिसमें वे वर्ण व्यवस्था को चला सकते और अपने से छोटों पर लाद सकते थे।

---

[६]

आर्थिक दक्षता और वर्ण-भेद

वर्ण-भेद से आर्थिकदक्षता नहीं पैदा होती। वर्ण-भेद ने वंश को न उन्नत किया है और न वह कर ही सकता है। इसने अलवत्ता एक बात की है। इसने हिन्दुओं को पूर्णतः असङ्गठित और नीतिभ्रष्ट कर दिया है।

सब से प्रथम और प्रधान बात, जिसको समझ लेना बहुत आवश्यक है, यह है कि हिन्दू-समाज एक काल्पनिक वस्तु है। खुद हिंदू नाम भी एक विदेशी नाम है। यह नाम मुसलमानों ने यहां के निवासियों को अपने से अलग पहचानने के लिए दिया था। मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व के किसी भी संस्कृत ग्रन्थ-में इसका उल्लेख नहीं मिलता। शायद उनको एक सामान्य नाम की आवश्यकता का अनुभव ही न होता था, क्योंकि उनको इस बात की कल्पना ही न थी कि हम एक समाज या बिरादरी हैं। इसलिए एक भ्रातृ-मण्डल के रूप में हिन्दू-समाज का कोई अस्तित्व नहीं। यह तो केवल वर्णों और उपवर्णों का एक संग्रह है। प्रत्येक वर्ण और उपवर्ण अपने ही अस्तित्व का अनुभव करता है। इसको बनाये रखना ही वह अपने अस्तित्व का एकमात्र उद्देश्य समझता है।

भिन्न भिन्न जातें-पांतें और वर्ण-उपवर्ण कोई सङ्घ भी नहीं बनाते। एक वर्ण कभी यह अनुभव ही नहीं करता कि वह

दूसरे वर्णों के साथ सम्पर्क है, सिवा उस समय के जबकि कोई हिंदू-मुसलिम फ़िसाद हो। बाकी सब अवसरों पर प्रत्येक वर्ण अपने को दूसरे वर्णों से अलग करने और पृथक् दिखाने का ही प्रयत्न करता है। प्रत्येक वर्ण न केवल अपने ही भीतर खान-पान और ब्याह-शादी करता है, वरन् अपने लिए एक पार्थक्य-सूचक परिधान भी निर्धारित करता है। यदि यह बात नहीं, तो भारत के स्त्री-पुरुषों के परिधान की असंख्य रीतियों का, जिन्हें देख कर विदेशी पर्यटक हंसते हैं, और क्या कारण है? वास्तव में आदर्श हिंदू वही है, जो चूहे की भांति अपने ही बिल में बन्द रहता है और दूसरों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध रखने को तैयार नहीं। जिसे समाज-शास्त्र की परिभाषा में "जाति की चेतना" (Consciousness of kind) कहा जाता है, उसका हिन्दुओं में सर्वथा अभाव है। हिन्दू अनुभव ही नहीं करते कि हम एक जाति हैं। प्रत्येक हिन्दू में जो चेतना पाई जाती है, वह उसके अपने वर्ण की चेतना (consciousness of caste) है। इसी कारण हिन्दू एक समाज या एक राष्ट्र नहीं कहला सकते।

परन्तु अनेक भारतीय ऐसे हैं, जिन की देशभक्ति उन्हें यह स्वीकार करने की आज्ञा नहीं देती कि भारतीय कोई एक राष्ट्र नहीं, वरन् एक जनता का आकारहीन ढेर हैं। वे आग्रह करते हैं कि इस बाहर से दीखने वाली विभिन्नता के नीचे मौलिक एकता मौजूद है, जिस का प्रमाण यह है कि भारत के इस

द्वीप में सर्वत्र हिन्दुओं के स्वभाव और रीतियां, विश्वास
विचार एक जैसे हैं। परन्तु इतने से भी कोई मनुष्य इस
णाम को स्वीकार नहीं कर सकता कि हिन्दुओं का एक
ज है।

हिन्दुओं को एक समाज मानना समाज को बनाने वाली
श्यक बातों को ग़लत समझना है। शारीरिक रूप से एक-
के निकट रहने से ही मनुष्य एक समाज नहीं कहला
ते, नहीं तो यह भी मानना पड़ेगा कि दूसरे मनुष्यों
ई सौ मील दूर चले जाने से मनुष्य अपने समाज का
स्य नहीं रह जाता। दूसरे, स्वभावों और रीतियों, विश्वासों
विचारों में सादृश्य का होना मनुष्यों को एक समाज
ने के लिए पर्याप्त नहीं है। ईंटों की तरह बातों को एक से
रे तक पहुंचाया जा सकता है। इसी प्रकार एक मनुष्य-समूह
भाव और रीतियां, विश्वास और विचार दूसरा मनुष्य-
ह ले सकता है, जिस से दोनों में सादृश्य दीख सकता है।
कृति प्रसार द्वारा फैलती है। यही कारण है जो हम विविध
दिम जातियों में, स्वभावों और रीतियों, विश्वासों और
ारों के विषय में सादृश्य पाते हैं, यद्यपि वे एक-दूसरे के
नहीं रहतीं। परन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि क्यों कि
में यह सादृश्य था, इस लिए आदिम जातियों का एक
ाज था। समाज उन्हीं लोगों का बनता है, जिन के पास वे
ज़ें होती हैं जिन पर उन सब का साझे का अधिकार
ता है।

वैसी ही चीजें रखना चीजों पर साझे का अधिकार रखने से सर्वथा भिन्न बात है। एकमात्र रीति, जिससे मनुष्य एक दूसरे के साथ वस्तुओं पर साझे का अधिकार रख सकते हैं, वह एक दूसरे के साथ सहचरता या मानोभाव का आदान-प्रदान है। दूसरे शब्दों में, समाज का अस्तित्व मनोभाव के आदान-प्रदान द्वारा वरन् आदान-प्रदान में ही रह सकता है।

इसे तनिक अधिक स्पष्ट करना हो, तो कह सकते हैं कि मनुष्य का दूसरों के कार्यों के अनुकूल ढङ्ग से कार्य करना ही पर्याप्त नहीं अनुरूप कर्म चाहे एक सदृश भी हो, वह मनुष्यों को इकट्ठा करके समाज बनाने के लिए पर्याप्त नहीं। इस का प्रमाण यह है कि यद्यपि हिन्दुओं के भिन्न-भिन्न वर्णों और उपवर्णों सब के पर्व एक ही हैं, तो भी विभिन्न वर्णों के एक-जैसे पर्वों को अनुरूप रीति से मनाने से हिन्दू जुड़ कर एक अखण्ड समाज नहीं बने। इस के लिए जिस बात की आवश्यकता है, वह है मनुष्य का एक साझे के कार्य में भाग लेना, ताकि उस में वही मानसिक आवेग जाग्रत हो, जो दूसरों को उत्साहित कर रहा है। किसी सम्मिलित कार्य में किसी व्यक्ति को भागीदार या साझी बनाना जिस से वह उस कार्य की सफलता को अपनी सफलता और उसकी विफलता को अपनी विफलता समझे, यही एक सच्ची चीज़ है, जो मनुष्यों को इकट्ठा करती और उन का एक समाज बनाती है। वर्ण-भेद साझे के काम को रोकता है और साझे के काम को

गोलक ब्राह्मण, देवरुख ब्राह्मण, कहाड़ा ब्राह्मण, पलशे ब्राह्मण, और चितपावन ब्राह्मण, सब ब्राह्मण वर्ण के ही उपवर्ग होने का दावा करते हैं। परन्तु उन के बीच भी एक दूसरे से पृथक रहने का समाज विरोधी भाव उतना ही व्यक्त एवं प्रबल है जितना कि उन के और दूसरी ब्राह्मण जातियों के बीच है पर कोई अनोखी बात नहीं। दूसरों से न मिलने का समाज-विरोधी भाव वहीं पाया जाता है जहाँ एक दल के "अपने अलग हित" होते हैं। ये हित उस दल को दूसरे दलों के साथ पूरी तरह से पारस्परिक क्रिया करने से रुक-रोक देते हैं। इस से उस का प्रधान उद्देश्य जो कुछ उसके पास है उसी की रक्षा करना हो जाता है यह समाज विरोधी भाव, यह अपने ही हितों की रक्षा करने का भाव, हिन्दुओंकी विभिन्न जातियों और उपजातियों में एक दूसरे के पृथक रहने में उतना ही तीव्र है। जितना कि संसार के विभिन्न राष्ट्रों में एक दूसरे से पृथक रहने में पाया जाता है।

ब्राह्मणों की प्रधान चिन्ता ब्राह्मणेतरों से और ब्राह्मणेतरों की प्रधान चिन्ता ब्राह्मणों से "अपने हितों" की रक्षा करना होती है। इसलिए हिन्दू केवल इतनी जातियों और उपजातियों का श्रेणी-विभाग ही नहीं, वरन् वे आपस में युद्ध करने वाले इतने दल हैं। उन में से प्रत्येक अपने लिए और अपने स्वार्थ-मय आदर्श के लिये जी रहा है।

जातिभेद का एक और भी शोचनीय रूप है वर्तमान

गरेजों के पुरखे "गुलाबों के युद्ध" (War of Roses) और मवेल के युद्ध में एक दूसरे के विरुद्ध लड़े थे। परन्तु उन के राजों में अब किसी प्रकार का वैर-भाव नहीं। वे झगड़े को ल गये हैं। किन्तु आज के ब्राह्मणेतर आज के ब्राह्मणों को मा नहीं कर सकते, क्योंकि ब्राह्मणों के पूर्वजों ने शिवाजी । अपमान किया था। इसी प्रकार आज के कायस्थों के पूर्वजों : आज के ब्राह्मणों के पूर्वजों ने जो कलङ्क का टीका लगाया ।, उस के लिये कायस्थ आजके ब्राह्मणों को क्षमा करने को यार नहीं। अंगरेजों और हिन्दुओं में जो यह अन्तर देख ;ता है इस का कारण सिवा वर्ण-व्यवस्था के और क्या हो कता है? वर्ण-भेद और "मैं ब्राह्मण हूँ और वह वैश्य है" त जात-पांत की चेतना के कारण ही आजतक हिन्दुओं की ।भिन्न जातियों के बीच के अतीत कलहों की स्मृति बनी हुई और हिन्दुओं को संगठित होनेसे रोकती है।

[८]

आदिम निवासी और जाति-भेद

हाल में जो वर्जित और आंशिक रूप से वर्जित क्षेत्रों के षय में विवाद चला था, उसने जनता का ध्यान जिन्हें भारत । आदिम जातियाँ कहा जाता है उन की स्थिति की ओर ाकर्षित किया है। उन की संख्या अधिक नहीं तो १३ लाख तो रूर है। इस बात को छोड़ करभी कि नये राजनीतिक विधान से

में उनको अलग रखना उचित है या अनुचित, यह सचाई फिर भी बनी रहती है कि ये आदिम जातियां एक ऐसे देश में, जो सहस्रों वर्षों की पुरानी सभ्यता की डींग मारता है, अपनी पहली असभ्य दशा में ही पड़ी रही हैं। न केवल इतना कि ये असभ्य हैं, वरन् उनमें से कुछ लोग तो ऐसे पेशे करते हैं जिन से वे जरायम-पेशा (criminal tribes) कहलाने लगे हैं। तेरह लाख मनुष्य सभ्य संसार के बीच रहते हुए अभी तक भी जङ्गली अवस्था में हैं और परम्परागत अपराधियों का जीवन बिता रहे हैं! और हिन्दुओं ने कभी इस के लिए लज्जा का अनुभव नहीं किया। यह घटना ऐसी है, जिसकी तुलना मिलना कठिन है। *इस लज्जाजनक दशा का क्या कारण है? इन आदिम निवासियों को सभ्य बनाने और किसी अधिक प्रतिष्ठित रीति से आजीविकोपार्जन करना सिखाने का यत्न क्यों नहीं किया गया?*

आदिम निवासियों की इस जङ्गली अवस्था का कारण हिन्दू सम्भवतः उन को आजन्मिक मूर्खता बतायेंगे। सम्भवतः वे इस बात को स्वीकार नहीं करेंगे कि आदिम निवासी इस लिए जङ्गली रह गये हैं, क्योंकि हमने उन को सभ्य बनाने का, उन को दवा-दारू की सहायता देने का, उन का सुधार करने का और उन को अच्छे नागरिक बनाने का कोई यत्न नहीं किया। परन्तु मान लीजिये कि कोई हिन्दू इन आदिम निवासियों के लिए वही कुछ करना चाहता जो ईसाई मिश्नरी उन के लिए कर

के शत्रुओं की सेना को बढ़ाने का कारण बन जायेंगे। यदि ऐसा हुआ, तो हिन्दुओं को अपने आप को और अपने वर्ण-भेद को धन्यवाद देना पड़ेगा।

[६]
वर्ण-भेद द्वेष का मूल है

न केवल यही कि हिन्दुओं ने जङ्गलियों को सभ्य बनाने जैसे मानव-हित के काम के लिये कोई यत्न नहीं किया, वरन् हिन्दुओं के ऊंचे वर्णों ने जान बूझ कर अपने से छोटे वर्ण के दूसरे हिन्दुओं को उन्नत करके उच्च-वर्ण के सांस्कृतिक धरातल पर पहुँचने से रोका है। मैं यहां दो उदाहरण देता हूँ, एक सोनारोंका और दूसरा पठारे प्रभुओं का। दोनों जातियां महाराष्ट्र में बहुत प्रसिद्ध हैं। अपनी सामाजिक स्थिति को ऊंचा करने की इच्छुक दूसरी बिरादरियों की तरह, ये दोनों बिरादरियां भी एक समय ब्राह्मणों की कुछ रीतियाँ और स्वभाव ग्रहण करने का यत्न कर रही थीं। सोनार अपने को दैवज्ञ ब्राह्मण कहते थे, धोती की लाँग तह लगाकर बांधते और अभिवादन में 'नमस्कार' शब्द का प्रयोग करते थे। धोती को तह करके बांधना और 'नमस्कार' कहना, ये दोनों रीतियां केवल ब्राह्मणों की ही थीं। सुनारों का इस प्रकार अनुकरण करना और ब्राह्मण बनने का यत्न करना ब्राह्मणों को बुरा लगा। ब्राह्मणों ने पेशवाओं की राजाज्ञा से सोनारों को ब्राह्मणों

की प्रथाओं को ग्रहण करने के इस यत्न को सफलतापूर्वक दबा दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने बम्बई में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सैटलमैण्ट की कौंसिल के प्रेजिडेन्ट से भी बम्बई में रहने वाले सोनारों के नाम एक निषेधात्मक आज्ञा निकलवा दी।

एक समय था, जब पठारे प्रभुओं में विधवा-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। विधवा-विवाह की प्रथा सामाजिक हीनता का चिन्ह समझी जाती थी, विशेषतः इसलिये क्योंकि ब्राह्मणों में इसका रिवाज नहीं था। अपनी जाति की सामाजिक स्थिति को ऊंचा करने के उद्देश्य से कुछ पठारे प्रभुओं ने अपनी जाति में विधवा-विवाह की प्रथा को बन्द कर देना चाहा। इस पर जाति में दो दल हो गये, एक विधवा-विवाह के पक्ष में और दूसरा उनके विरुद्ध। पेशवाओं ने उस दल का पक्ष लिया, जो विधवा-विवाह के समर्थक थे और इस प्रकार पठारे प्रभुओं को कार्यतः ब्राह्मणों की प्रथा का अनुकरण करने से मना कर दिया। हिन्दू मुसलमानों को उलाहना देते हैं कि उन्होंने अपना धर्म तलवार के ज़ोर से फैलाया है। वे ईसाई धर्म को इंक्वीज़ीशन के कारण हँसी उड़ाते हैं। परन्तु वास्तवमें दोनों में से कौन अच्छा और कौन सम्मान के अधिक योग्य है—मुसलमान और ईसाई, जो न मानने वाले लोगों के गले में यह वस्तु बरबस ठूंसते थे जिसे वे उनकी मुक्ति के लिये अच्छी समझते थे, या हिन्दू, जो ज्ञान का प्रकाश फैलाने को तैयार नहीं थे, जो दूसरों को अन्धेरे में रखने का यत्न करते थे, और जो दूसरे लोगों को

अपने वौद्धिक और सामाजिक उत्तराधिकार में से भाग देने को सम्मत न थे हालां कि वे लोग उसे अपनी वनावट का एक अङ्ग बनाने को तैयार और राजी थे? इस दृष्टि से यह कहने में कोई सङ्कोच नहीं होता कि यदि मुसलमान निर्दय थे, तो हिन्दू नीच, और नीचता निर्दयता से बुरी है।

[१०]

जात-पांत और शुद्धि

एक समय था, जब इस बात पर विवाद होते थे कि क्या हिन्दू-धर्म कोई मिशनरी या प्रचारक धर्म है। कुछ लोगों का मत था कि यह कभी भी मिशनरी या विधर्मियों को अपने में खपा लेने वाला धर्म नहीं रहा। कुछ समझते थे कि यह था। परन्तु यह स्वीकार ही करना पड़ेगा कि यह एक समय प्रचारक धर्म था। यदि यह प्रचारक धर्म न होता, तो यह सारे भारत में कभी न फैल सकता। इसके साथ ही इस सचाई को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि अब यह मिशनरी धर्म नहीं रहा इस लिए प्रश्न यह नहीं कि हिन्दू-धर्म प्रचारक धर्म था या नहीं; वास्तविक प्रश्न यह है कि हिन्दू धर्म प्रचारक धर्म क्यों नहीं रहा? मेरा उत्तर यह है हिन्दू धम उस समय प्रचारक धर्म न रहा, जब हिन्दुओं में वर्ण-भेद उत्पन्न हो गया। वर्ण भेद और प्रचार द्वारा विधर्मियों को अपने धर्म में खपाना, दो परस्पर विरोधी बातें हैं। धर्मान्तर में केवल सिद्धान्तों और विश्वासों को ठूंसने का ही एक प्रश्न नहीं होता।

धर्मान्तरित व्यक्ति को अपने समाज में स्थान देने का भी प्रश्न होता है और बहुत आवश्यक प्रश्न होता है। दूसरे धर्म से आने वाले को समाज में कहां रखा जाय ? उसे किस बिरादरी में जगह दी जाय ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जो प्रत्येक ऐसे हिन्दू को हैरान करता है, जो विदेशियों और विधर्मियों को धर्मान्तर द्वारा हिन्दू बनाना चाहता है। वर्ण कोई क्लब नहीं, जिस में सब कोई सम्मिलित हो सके। जात-पांत के नियमानुसार केवल उसे जाति में जन्म लेने वाला ही उस जाति का माना जा सकता है। सब वर्ण या बिरादरियां स्वतन्त्र हैं। कहीं भी कोई ऐसा हाकिम मौजूद नहीं, जो किसी वर्ण को किसी नवागत को अपने सामाजिक जीवन में प्रविष्ट करने पर विवश कर सके। हिन्दू समाज वर्णों और उपवर्णों का संग्रह-मात्र है, और प्रत्येक वर्ण और उपवर्ण एक ऐसा गठित सङ्घ है, जिस में बाहर से भीतर जाने का मार्ग बन्द है, इस लिए दूसरे धर्म से आने वाले के लिए उस में कोई स्थान नहीं। अतएव वर्ण-भेद ने ही हिन्दुओं को फैलने से और दूसरे धर्म वालों को अपने में खपाने से रोका है। जब तक वर्ण-भेद रहेंगे, हिन्दू धर्म प्रचारक धर्म नहीं बन सकेगा और "शुद्धि"-आन्दोलन एक मूर्खता और व्यर्थ चेष्टा मात्र होगी।

[११]

वर्ण- भेद और संगठन

जिन कारणों ने "शुद्धि" को असम्भव बना रखा है, उन्हीं

ने सङ्गठन को भी असम्भव बना दिया है। सङ्गठन के नीचे जो भाव काम कर रहा है, वह यह है कि हिन्दू के मन से उस भीरुता और कायरता को दूर किया जाय, जिस के कारण वह मुसलमान और सिक्ख से डर कर दूर भागता है और जिसके कारण वह अपनी रक्षा के लिए धोखे और मक्कारी की नीच रीतियों का अवलम्ब करता है। स्वभावतः प्रश्न उत्पन्न होता है कि सिक्ख या मुसलमान वह शक्ति कहां से प्राप्त करता है, जो उसे वीर और निडर बनाती है? इस का कारण यह नहीं कि वे शारीरिक बल में हिन्दुओं से अधिक हैं या अपेक्षाकृत अच्छा भोजन करते हैं, या कोई विशेष व्यायाम करते हैं। इस का कारण वह शक्ति है जो इस भाव से उत्पन्न होती है कि एक सिक्ख को खतरे में देख कर सभी सिक्ख उस को बचाने के लिए इकट्ठे हो जाते हैं और कि यदि एक मुसलमान पर आक्रमण होता है, तो सभी मुसलमान उस की रक्षा के लिए दौड़ पड़ते हैं। हिन्दू ऐसी कोई शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। उसे विश्वास नहीं हो सकता कि दूसरे हिन्दू उस की सहायता के लिए आयेंगे। हिन्दू अकेला है, भाग्य ने ही उसे अकेला रक्खा है, इस लिए वह निर्बल रहता है। उस में कायरता और भीरुता उत्पन्न हो जाती है, और लड़ाई में या तो वह अधीनता स्वीकार कर लेता है या भाग जाता है। सिक्ख और मुसलमान निडर हो कर खड़ा रहता है और डट कर लड़ता है; क्यों कि वह जानता है कि यद्यपि मैं एक हूं, परन्तु मैं अकेला

नहीं रहूँगा। एक को इस विश्वास के कारण शक्ति मिल जाती है और दूसरों को इसके अभाव के कारण भाग जाना पड़ता है।

यदि आप इस पर तनिक और विचार करेंगे और पूछेंगे कि सिख और मुसलमान को किस कारण अपने पर इतना भरोसा रहता है और सहायता तथा बचाव के सम्बन्ध में हिन्दू क्यों इतना हताश रहता है, तो आपको इसका कारण उन के रहन-सहन की सङ्घबद्ध रीतिमें दीख पड़ेगा। सिक्खों और मुसलमानोंके मिलकर रहने-सहनेकी रीति ऐसी हैं जिससे उनमें सहानुभूति पैदा होती है। हिन्दुओं के रहन-सहनकी रीति ऐसी नहीं। सिक्खों और मुसलमानों का सामाजिक बन्धन ऐसा है, जो उनको भाई बनाता है। हिन्दुओं में ऐसा कोई सामाजिक बन्धन नहीं है। इससे एक हिन्दू दूसरे हिन्दू को अपना भाई नहीं समझता है। यही कारण है कि एक सिख या एक खालसा अपने को सवा लाख मनुष्यों के बराबर समझता और कहता है। यही कारण है कि एक मुसलमान हिन्दुओं की एक बड़ी भीड़ के बराबर है। दोनों में इस अन्तर का कारण निस्सन्देह हिन्दुओं का वर्ण-भेद है। जब तक वर्ण-भेद है, तब तक कोई संगठन नहीं हो सकता और जब तक सङ्गठन नहीं, तब तक हिन्दू दुर्बल और दब्बू ही बने रहेंगे।

हिन्दू अभिमान के साथ कहते हैं कि हम बड़े सहिष्णु और उदार-चेता हैं। मेरी सम्मति में यह भूल है। कई अवसरों पर

वे असहिष्णु और अनुदार हो जाते हैं। यदि किसी अवसर पर वे सहिष्णु होते हैं, तो इसका कारण यह होता है कि वे इतने दुर्बल होते हैं या इतने उदासीन होते हैं कि विरोध नहीं कर सकते। यह उदासीनता हिन्दुओं की प्रकृति का इतना अधिक अंश बन चुकी है कि हिन्दू अपमान और अत्याचार को भी चुपके से सहन कर लेता है। आप उनमें, श्रीयुत मारिस के शब्दों में, बड़ों को छोटों को रौंदते, सबलों को निर्बलों को पीटते, क्रूरों को किसी से न डरते, दयालुओं को साहस न करते और बुद्धिमानों को परवा न करते हुये पाते हैं। सभी हिन्दू देवताओं के क्षमाशील होते हुए भी, हिन्दुओं में दलितों और अत्याचार-पीड़ितों की दयनीय दशा किसी से छिपी नहीं। उदासीनता से बढ़कर बुरा और कोई रोग नहीं हो सकता। हिन्दू इतने उदासीन क्यों हैं? मेरी राय में यह उदासीनता वर्ण-भेद का ही परिणाम है। वर्णभेदने किसी अच्छे काम के लिये भी सङ्गठन और सहयोग को असम्भव बना दिया है।

(१२)

जाति-बहिष्कार एक कठोर दण्ड

समूह के आदर्शों; समूह के अधिकार और समूह के हितों के विरुद्ध व्यक्ति का अपने मत एवं विश्वास को, अपनी निजी स्वाधीनता एवं हितों को दृढ़तापूर्वक पेश करना सारे सुधार का प्रारम्भ होता है। परन्तु वह सुधार जारी रहेगा या नहीं; यह

ात उस अवकाश पर निर्भर करती है जो समूह ऐसी वैयक्तिक
वत्वरक्षा को प्रदान करता है। यदि समूह ऐसे व्यक्तियों
े प्रति व्यवहार में सहिष्णु एवं न्यायप्रिय है तो वे दृढ़तापूर्वक
प्रपनी बात कहते रहेंगे और अन्त में अपने भाइयों को अपने
मत का बनाने में सफल हो जायंगे। इस के विपरीत यदि समूह
सहिष्णु नहीं, और इस बात की चिन्ता नहीं करता कि ऐसे
व्यक्तियों का गला घोंटने के लिए वह किन साधनों का प्रयोग
करता है, तो वे नष्ट हो जायेंगे और सुधार मर जायगा। अच्छा
अब जाति को पूर्ण अधिकार है कि जो भी मनुष्य जाति-प्रथा के
नियमों को भङ्ग करे उसे बहिष्कृत कर दे। स्मरण रहे कि जाति-
बहिष्कार में मनुष्य का दूसरों के साथ सामाजिक मेल-जोल
बिलकुल बंद हो जाता है। इस लिए दण्ड के रूप में जाति-
बहिष्कार और मृत्यु दोनों बराबर हैं। अतएव इस में कोई
आश्चर्य की बात नहीं कि किसी हिंदू को जाति-प्रथा के बंधनों
को तोड़ कर अपनी स्वाधीनता के अधिकार का समर्थन करने का
साहस नहीं होता था। यह सत्य है कि मनुष्य अपने बराबर
वालों को समझा-बुझा कर अपने साथ नहीं मिला सकता।
परन्तु यह भी सत्य है कि उन के विना भी उस की गुज़र नहीं।
वह अपने बराबर वालों की संगति अपनी शर्तों पर पसंद करती
है। यदि उसे उन की संगति अपनी शर्तों पर प्राप्त नहीं हो
सकती तो वह उसे किसी भी शर्त पर यहां तक कि पूर्ण आत्म-
समर्पण करके भी, लेने के लिए तैयार हो जाता है। इस का

कारण यह है कि वह समाज के बिना रह नहीं सकता। जाति-प्रथा मनुष्य की इस निःसहायता का लाभ उठाने के लिए सदा उद्यत रहती है और आग्रह करती है कि वह उसके नियमों का पूरी तरह पालन करे। किसी सुधारक के जीवन को नरक बना देने के लिए जाति प्रथा सहज में ही संगठित हो कर षड्यंत्र बन जाती है। यदि षड्यंत्र अपराध है तो मैं नहीं समझता कि जाति-प्रथा के नियमों के विरुद्ध आचरण करने का साहस करने के कारण किसी पुरुष को बहिष्कृत कर देने का यत्न जैसे अतिदुष्ट कर्म को कानून की दृष्टि में दण्डनीय अपराध क्यों न ठहराया जाय। परन्तु, अवस्था यह है कि कानून ने भी प्रत्येक जाति को अपने सदस्यों को नियंत्रित करने और मतभेद प्रकट वालों को बहिष्कार का दण्ड देने की स्वतंत्रता दे रक्खी है। कट्टरपंथियों के हाथ में जाति-प्रथा सुधारकों को कष्ट देने और सब प्रकार के सुधार को मार डालने के लिए एक प्रबल शस्त्र करन बनी रही है।

[१३]

वर्णभेद और आचार-शास्त्र

हिन्दुओं के आचार-शास्त्र पर वर्ण-भेद का प्रभाव बहुत खेदजनक हुआ है। वर्ण-भेद ने सार्वजनिक भाव को मार डाला है। वर्ण-भेद ने सार्वजनिक वदान्यता के भाव को नष्ट

कर दिया है। वर्ण-भेद ने लोक-मत को असम्भव बना दिया एक हिन्दू की जनता उसका अपना वर्ण ही है। उसका उत्तर-दायित्त्व उसके अपने ही वर्ण के प्रति है। उसकी भक्ति उसके अपने वर्ण तक ही परिमित है। वर्ण-भेद ने सद्गुण को जात-पांत के नीचे दबा दिया है और सदाचार को जात-पांत में जकड़ दिया है। पात्र के लिये कोई सहानुभूति नहीं रही। गुणी के गुणों की कोई प्रशंसा नहीं। भूखे का दान नहीं दिया जाता। किसी को कष्ट में देख कर उसकी सहायता का भाव नहीं उत्पन्न होता। दान होता जरूर है, परन्तु वह अपने ही वर्ण से आरम्भ होकर अपने ही वर्ण के साथ समाप्त हो जाता है। सहानुभूति है, परन्तु दूसरे वर्णों के लोगों के लिये नहीं।

क्या कोई हिन्दू किसी बड़े और अच्छे मनुष्य को अपना नेता स्वीकार करेगा और उस के पीछे चलेगा किसी महात्मा को छोड़ अलग रखकर, इस का उत्तर यह है कि हिन्दू उसी नेता के पीछे चलेगा, जो उसकी अपनी जातिका है एक ब्राह्मण तभी नेता के पीछे चलेगा यदि वह नेता ब्राह्मण है। इसी प्रकार कायस्थ कायस्थ को और बनिया बनिये को नेता मानेगा। अपनी जात-पांत का विचार छोड़ कर मनुष्य के सद्गुणों की कद्र करने की क्षमता हिन्दू में मौजूद नहीं। सद्गुण की कद्र होती है, परन्तु केवल उस समय, जब कि गुणी उसका अपना जाति-बन्धु हो। सारी आचार-नीति जातीय नीति (tribal morality) हो गयी है। मेरा जाति-भाई हो, चाहे वह ठीक कहता हो चा

गलत; मेरा जाति-बन्धु हो, चाहे अच्छा हो या बुरा। यह पुण्य का पक्ष लेने या पाप का पक्ष न लेने की बात नहीं। यह जाति का पक्ष लेने या न लेने की बात है। क्या हिन्दुओं ने अपने वर्णों और उपवर्णों के हितार्थ अपने देश के विरुद्ध विश्वासघात नहीं किया है?

(१४)
मेरा आदर्श-समाज

जाति-भेद द्वारा उत्पन्न हुए दुष्परिणामों की कष्टकर कथा को सुनते सुनते यदि आप में से कुछ सज्जन थक गये हों तो मुझे आश्चर्य नहीं होगा। इस में कोई बात नई नहीं है। इस लिए अब मैं इस समस्या के रचनात्मक अंश को लेता हूँ। आप पूछेंगे कि यदि आप वर्ण-भेद नहीं चाहते, तो आप का आदर्श समाज क्या है? मेरा आदर्श एक ऐसा समाज है, जिस का आधार स्वाधीनता, समता और बन्धुता हो। क्यों? बन्धुता पर क्या आपत्ति हो सकती है? मुझे तो कोई सूझती नहीं। आदर्श समाज गतिशील होना चाहिए, वह ऐसे मार्गों से भरा होना चाहिए, जो एक भाग में होने-वाले परिवर्तन को दूसरे भागों में ले जांय। आदर्श समाज में अनेक ऐसे हित होने चाहिए जिन का जान-बूझ कर आदान-प्रदान हो और जिन में सभी भाग लें। सम्मेलन की दूसरी रीतियों के साथ बेरोकटोक और विभिन्न प्रकार से संसर्ग होना चाहिए। दूसरे शब्दों में सामाजिक

हार करना न्याय-सङ्गत हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति के पूर्ण विकास को यथा सम्भव अधिक से अधिक उत्तेजन देना वाञ्छनीय हो सकता है। परन्तु यदि मनुष्यों के साथ पहली दो बातों में, जिन में वे असमान हैं, असमता का व्यवहार किया जायगा, तो उसका परिणाम क्या होगा? यह स्पष्ट है कि जिन व्यक्तियों के पक्ष में जन्म शिक्षा, पारिवारिक ख्याति, व्यावसायिक सम्बन्ध और बाप-दादा से मिला हुआ धन है, वे ही इस दौड़ में चुने जायेंगे। परन्तु ऐसो अवस्थाओं में यह चुनाव योग्यों का चुनाव नहीं होगा। यह विशेष अधिकार-प्राप्त मनुष्यों का चुनाव होगा। इस लिये वह कारण, जो जोर देता है कि तीसरी बातमें हमें लोगों के साथ एकसमान व्यवहार नहीं करना चाहिए, इस बातकी मांग करता है कि पहली दो बातों में हमें उनके साथ यथा-सम्भव अधिक से अधिक समता का व्यवहार करना चाहिए। इस के विपरीत कहा जा सकता है कि यदि सामाजिक संघ के लिये अपने सदस्यों से अधिक से अधिक लाभ उठाना अच्छा है, तो यह उन को दौड़ के आरम्भ में ही जहां तक हो सके समान बनाकर ही उन से अधिक से अधिक लाभ उठा सकता है। यह भी एक कारण है जिस से हम समता की उपेक्षा नहीं कर सकते।

परन्तु एक और कारण भी है, जिस से हमारे लिए समता को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। राजनीतिज्ञ का सम्बन्ध जनता की बहुसंख्या के साथ २ होता है। सक्षम

प्रभेद करने और प्रत्येक के प्रति न्यायसंगत रूप से अर्थात् प्रयोजन के अनुसार अथवा योग्यता के अनुसार व्यवहार करने के लिए न तो उस के पास समय रहता है और न ज्ञान ही मनुष्यों के प्रति न्यायसंगत व्यवहार का होना कितना ही वाञ्छनीय या युक्तिसंगत क्यों न हो, मानव-जगत को छांट कर उसका वर्गीकरण या श्रेणी विभाग नहीं किया जा सकता।

इस लिए राजनीतिज्ञ के लिए किसी मोटे और तैयार नियम के अनुसार कार्य करना आवश्यक है, और मोटा तथा तैयार नियम यह है कि सब मनुष्यों के साथ एक सा व्यवहार किया जाय, इस लिए नहीं कि वे सब एक समान हैं, वरन् इस लिए कि वर्गीकरण और श्रेणी-विभाग असम्भव है। समता का सिद्धान्त स्पष्टतः भ्रमजनक है। परन्तु सब कुछ होते हुए भी यही एक विधि है जिस का अवलम्ब कोई राजनीतिज्ञ कर सकता है। राजनीति एक व्यावहारिक काम है और कोई कठोर व्यावहारिक कसौटी मांगती है।

[१५]

आर्य समाजियों का वर्ण-व्यवस्था

परन्तु सुधारकों का एक दल ऐसा है जो एक भिन्न ही आदर्श पेश करता है, वे लोग आर्य समाजी कहलाते हैं। उन की समाज-रचना का आदर्श वह है जिसे चातुर्वर्ण्य कहा जाता है। उन का मत यह है कि भारत में इस समय पाई जानेवाली

चार सहस्र जातियों के स्थान में समाज के केवल चार विभाग होने चाहिए। इस सिद्धान्त को अधिक चित्ताकर्षक बनाने और इस के विरोध को दूर करने के उद्देश से वे कहते हैं कि उनके चातुर्वर्ण्य-विभाग का आधार जन्म नहीं वरन् गुण है। प्रारम्भ में ही मेरे लिए यह मान लेना आवश्यक है कि इस चातुर्वर्ण्य का आधार गुण होते हुए भी, यह एक ऐसा आदर्श है जिस के साथ मैं अपने को सम्मत नहीं कर सकता।

पहली बात तो यह है कि यदि आर्य समाजियों के चातुर्वर्ण्य में व्यक्ति को उस के गुणों के अनुसार ही हिन्दू-समाज में स्थान मिलेगा, तो समझ में नहीं आता कि वे लोगों पर-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लेबिल लगाने का क्यों हठ करते हैं। ब्राह्मण का लेबिल लगाये बिना भी एक विद्वान् सम्मान पाता रहेगा। क्षत्रिय का नाम दिये बिना भी सिपाही का आदर होगा। आर्य समाजियों को सोचना चाहिए कि यदि यूरोपीय समाज अपने योद्धाओं और विद्वानों पर स्थायी लेबिल लगाये बिना भी उनका आदर-सत्कार कर सकता है, तो उनको ही लेबिल लगाना क्यों आवश्यक जान पड़ता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय के इन लेबिलों को कायम रखने के विरुद्ध एक और भी आपत्ति है।

सारा सुधार इस बात में निहित है कि मनुष्यों और पदार्थों के प्रति जनता की बुद्धि, भावना और मानसिक वृत्ति में परिवर्तन हो। यह अनुभव सिद्ध बात है कि विशेष भाव

नाओं और संस्कारों के साथ विशेष नाम जुड़ जाते हैं। वे मनुष्यों और पदार्थों के प्रति व्यक्ति की मानसिक वृत्ति को निश्चय करते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ऐसे नाम हैं जो प्रत्येक हिन्दू के मन में एक निश्चित एवं स्थिर भावना के साथ जुड़े हुये हैं। वह भावना यह है कि ब्राह्मण सबसे ऊंचा है क्षत्रिय उससे नीचा, वैश्य क्षत्रिय से नीचा और शूद्र वैश्य से नीचा है। जब तक ये नाम प्रचलित रहेंगे हिन्दू इस जन्म-मूलक ऊंच-नीच को मानते और उसके अनुसार आचरण करते रहेंगे। ये सब बातें हिन्दू से भुलवा देना आवश्यक है। परन्तु यह बात कैसे संभव हो सकती है यदि ये नाम बने रहते हैं और उसे पुराने संस्कारों का स्मरण कराते रहते हैं? यदि जनता के मन में नई भावनाएं उत्पन्न करना है तो उनके नये नाम रखना आवश्यक है। पुराने नामों को जारी रखना सुधार को व्यर्थ करना है। चातुर्वर्ण्य को गुण-मूलक बता कर इस पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के दुर्गन्ध युक्त लेबिल लगाना एक प्रकार का यहां पाखण्ड जाल फैलाना है।

(१६)

क्या वर्ण-भेद साध्य भी है?

पुराने लेबिलों के साथ चिपकाए रखने वाला यह चातुर्वर्ण्य मुझे बहुत ही घृणाजनक लगता है। मेरी आत्मा इसके विरुद्ध विद्रोह करती है। परन्तु चातुर्वर्ण्य पर अपनी आपत्ति का

समर्थकों के लिये आवश्यक है यदि वे वर्ण-व्यवस्था की अवस्था में सफल होना चाहते हैं।

चातुर्वर्ण्य तभी मान्य माना जा सकता है, जब पहले दो बातें सम्भव मान ली जांय। एक बात तो यह कि पहले यह मान लिया जाय कि सारी जनता को चार निश्चित श्रेणियों में बांटा जा सकता है। इस दृष्टि से चातुर्वर्ण्यमर्यादा अफलातून की सामाजिक व्यवस्था से बहुत मिलती है। अफलातून मानता था कि प्रकृति ने मनुष्य-समाज तीन श्रेणियों में बंटा हुआ है। उसका विश्वास था कि कुछ व्यक्तियों में केवल क्षुधायेंवासनायें-प्रधान होती हैं। इनको उसने श्रमिक और वणिक श्रेणियों का नाम दिया। दूसरे लोगों में क्षुधाओं से भी बढ़कर उसे शूर प्रकृति दीख पड़ी। इनको उसने युद्ध में रक्षक और भीतरी शान्ति के पालक का नाम दिया है। कुछ दूसरे लोगों में वस्तुओं के मूल कारण को समझने की क्षमता दीखती थी। इनको उसने प्रजा के स्मृतिकार बना दिया। जो आपत्ति अफलातून की सामाजिक व्यवस्था (Republic) पर लागू होती है, वही चातुर्वर्ण्य अवस्था पर भी हो सकती है; क्योंकि इसमें भी यह मान लिया गया है कि मनुष्य-समाज को चार निश्चित श्रेणियों में ठीक-ठीक विभक्त किया जा सकता है। अफलातून के विरुद्ध एक बड़ी आपत्ति यह है कि मनुष्य और उसकी शक्तियों के सम्बन्ध में उसका मत बहुत ही ऊपरी है, इस लिए यह समझना है कि व्यक्तियों का कतिपय बिलकुल

जाता है कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था को बनाए रखने के लिए राज-दण्ड का होना क्यों आवश्यक है। न केवल दण्ड का विधान ही, वरन् प्राण-दण्ड का होना आवश्यक है। इस लिए राम ने शम्बूक को मृत्यु से कम दण्ड नहीं दिया। इसी लिए वेद-मन्त्र को सुनने या उसका उच्चारण करने वाले शूद्र के लिए मनुस्मृति कान में पिघला हुआ सीसा भर देने की या उसकी जिह्वा काट डालने की आज्ञा देती है। चातुर्वर्ण्य के पक्षपातियों को जनता को विश्वास दिलाना होगा कि वे मनुष्य-समाज की जांच-पड़ताल करके उसे सफलता-पूर्वक चार वर्णों में विभक्त कर सकते हैं और इस २० वीं शताब्दी में वे आधुनिक समाज को मनुस्मृति की दंडाज्ञायें पुनः प्रचलित करने के लिए तैयार कर सकते हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि चातुर्वर्ण्य के समर्थकों ने इस बात पर विचार नहीं किया कि उन की व्यवस्था में स्त्रियों का क्या बनेगा। क्या वे भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में बांटी जायंगी ? या उनका वर्ण वही होगा जो उनके पतियों का होगा ? यदि स्त्री का पद या वर्ण उस के विवाह के फल-स्वरूप होगा तो चातुर्वर्ण्य का आधारभूत सिद्धान्त कहाँ जायगा, जो यह कहता है कि व्यक्ति का पद उसके अपने गुण अनुसार होना चाहिए ? यदि स्त्रियों का वर्गीकरण उन के ों के अनुसार होना है, तो क्या उनका वर्गीकरण नाम मात्र गा या सचमुच का ? यदि यह नाम मात्र का होगा तो

यह निष्प्रयोजन होगा। तब चातुर्वर्ण्य के समर्थकों को स्वीकार कर लेना चाहिए कि उनकी व्यवस्था स्त्रियों पर लागू नहीं होती। यदि यह सचमुच का होगा, तो क्या चातुर्वर्ण्य के समर्थक इस के स्त्रियों पर प्रयोग के तर्क-संगत परिणामों को समझने को तैयार हैं? तब उन को स्त्रियों को पुरोहित और सिपाही भी बनाना होगा। हिन्दू समाज स्त्रियों का अध्यापिका और बैरिस्टर बनना तो सहन करने लग गया है सम्भव है कि यह स्त्रियों का मदिरा बनाने वाली और बूचड़ बनना भी सहन करने लगे। वह बड़ा ही साहसी व्यक्ति होगा जो कहेगा कि हिन्दू समाज स्त्रियों को पुरोहित और सैनिक भी बनने देगा। परन्तु चातुर्वर्ण्य को स्त्रियों पर लागू करने का युक्ति-संगत फल तो यही हो सकता है। इन कठिनाइयों की विद्यमानता में, जन्मसिद्ध गावदी के सिवा दूसरा कोई भी समझदार मनुष्य कभी यह आशा और विश्वास नहीं कर सकता; कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था पुनः जीवित हो सकती है।

[१७]

वर्ण-भेद की हानियां

यदि यह मान भी लिया जाय कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था साध्य है, तो भी यह कहना पड़ेगा कि यह एक अतीव दुष्ट व्यवस्था है। ब्राह्मण को ज्ञान-वृद्धि करनी चाहिए, क्षत्रियों को शस्त्र धारण करने चाहिएं, वैश्य को वाणिज्य करना चाहिए

शूद्र को सेवा करनी चाहिए—इस से यह ध्वनित होता है श्रम-विभाग की कोई व्यवस्था है। यह एक मनोरञ्जक है कि क्या इस सिद्धान्त का उद्देश्य यह कहना था कि को धनोपार्जन की आवश्यकता नहीं थी इसका उद्देश्य धनोपार्जन से रोक देना था। चातुर्वर्ण्य के रक्षक इस का ता अर्थ लेते हैं। वे कहते हैं कि शूद्र को धनोपार्जन के लिए करने की क्या आवश्यकता है जब शेष तीन वर्ण उसका ण-पोषण करने के लिए मौजूद हैं? शूद्र को शिक्षा-प्राप्ति के हैरान होने की क्या आवश्यकता है जब ब्राह्मण मौजूद है? खने या पढ़ने का मौका पड़ने पर शूद्र उसके पास जा सकता शूद्र को शस्त्र धारण करने की क्या आवश्यकता है जब की रक्षा के लिये क्षत्रिय मौजूद है? चातुर्वर्ण्य सिद्धान्त का यही अर्थ समझा जाय तो कहना पड़ेगा कि यह सिद्धान्त को रक्ष्य और तीन वर्णों को उसका संरक्षक मानता है।

इसकी यही व्याख्या करने से यह एक सरल उत्कर्षकार र लुभावना सिद्धान्त हो जाता है। चातुर्वर्ण्य की धारभूत कल्पना का यही ठीक उद्देश्य मान कर, ऐसा लगता है कि यह अवस्था न बड़े मूर्खों से ाती है और न धूर्तों से। यदि ब्राह्मण, वैश्य और क्षत्रिय तोपार्जन, धनोत्पादन और सुयोधा बनने प्रभृति अपने के कर्म को न करें, तो फिर क्या हो? या इसके विपरीत जिये। मान लीजिये वे अपना अपना काम तो करते हैं परन्तु

शूद्र के प्रति या एक दूसरे के प्रति अपना कर्तव्य पूरा नहीं करते। शूद्र की क्या दशा होगी, यदि तीन वर्ण उचित शर्तों पर उसका भरण-पोषण करने से इनकार करदें या उसे दबाये रखने के लिये इकट्ठे मिल जायं शूद्र के हितों का, और इसी तरह क्षत्रिय एवं वैश्य के हितों का कौन संरक्षण करेगा, जब कि उसके अज्ञान का लाभ उठाने का यत्न करने वाला ब्राह्मण हो? शूद्र की स्वाधीनता की, और इसी प्रकार ब्राह्मण और वैश्य की स्वाधीनता की रक्षा कौन करेगा, जब उस स्वाधीनता को छीनने वाला व्यक्ति क्षत्रिय हो! श्रेणियों का एक दूसरी पर अवलम्बित होना अनिवार्य है। एक श्रेणी की दूसरी श्रेणी पर निर्भरता की भी किसी किसी समय अनुज्ञा दी जा सकती है। परन्तु एक व्यक्ति को उसके परम आवश्यक प्रयोजनों के लिये दूसरे पर निर्भर क्यों बनाया जाय? प्रत्येक को शिक्षा की परम आवश्यकता है। स्वरक्षा के साधन भी प्रत्येक के पास होना चाहिएं। आत्म रक्षा के लिये ये प्रत्येक मनुष्य की प्रधान आवश्यकताएं हैं। किसी अशिक्षित और शस्त्र-विहीन मनुष्य को उसके पड़ोसी का सुशिक्षित एवं सशस्त्र होना क्या काम दे सकता है? सारा सिद्धान्त ही बेहूदा है। ये प्रश्न हैं जिन पर ऐसा प्रतीत होता है, चातुर्वर्ण्य के समर्थक विचार करने का कष्ट नहीं करते। परन्तु वे बड़े उपयुक्त प्रश्न हैं।

उनको चातुर्वर्ण्य की इस कल्पना को मान कर कि विभिन्न श्रेणियों के बीच का संबन्ध रक्ष्य और संरक्षक का संबन्ध है;

और कि चातुर्वर्ण्य की आधारभूत कल्पना यही है, तो यह स
कार करना पड़ेगा कि इसमें संरक्षक के कुकर्मों से रक्ष्य के हि
के संरक्षण के लिये कोई पूर्वोपाय नहीं। रक्ष्य रक्षक का सम्ब
ही चातुर्वर्ण्य की सच्ची आधारभूत कल्पना थी या नहीं, पर
आचारण में तो निस्सन्देह यह स्वामी और सेवक का सं
था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण यद्यपि अपने प
स्परिक सम्बन्ध में बहुत सुखी नहीं थे। तो भी उन्होंने स
झौते के साथ काम करने का प्रबन्ध कर लिया था। ब्राह्म
क्षत्रिय की चापलूसी करता था, और दोनों ने वैश्य की कम
खाने के लिये उसे जीने दिया। परन्तु शूद्र को दबाकर नीचे रख
के लिये तीनों सहमत हो गये। उसे धनोपार्जन की आज्ञा
दी गई, जिस से कहीं वह द्विजों से स्वतन्त्र न हो जाय। उ
ज्ञानोपार्जन से रोक दिया गया। ताकि वह अपने हितों के संब
में स्थिर रूप से जागरूक न रहे। उसके लिये शस्त्र धारण कर
का निषेध कर दिया गया ताकि कहीं उसके पास उनक
प्रभुता के विरुद्ध सिर उठाने का साधन न हो जाय। त्रिवर्णि
लोगों को शूद्रों के प्रति ऐसा ही व्यवहार था, इसका प्रमाण मनु
स्मृति है। सामाजिक अधिकारों के सम्बन्ध में मनु के धर्मशास्
से बढ़कर गर्ह्य और बदनाम संसार का कोई भी दूसरा धर्म
शास्त्र नहीं। संसार के किसी भी देश का किसी भी सामाजि
य का उदाहरण ले लीजिये, मनु-संहिता के सामने व
गा।

लोगों का जो सामाजिक अनिष्ट किया जाता रहा है उसे वे सहन क्यों करते रहे हैं ? यूनएडम के दूसरे देशों में सामाजिक क्रान्तियां होती रही हैं। पर भारत में कोई सामाजिक क्रान्ति क्यों नहीं हुई, यह एक ऐसा प्रश्न है जो मुझे निरन्तर कष्ट दे रहा है। इसका मैं केवल एक ही उत्तर दे सकता हूँ और वह यह कि हिन्दुओं की नीची जातियों को इस दुष्ट चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था ने किसी प्रकार की क्रान्ति करने के योग्य नहीं रहने दिया। उनको शस्त्र धारण करने का अधिकार नहीं था, और शस्त्रों के बिना वे विद्रोह नहीं कर सकते थे। वे सब हरवाहे थे, वरन उनको दंड स्वरूप हरवाहा बना दिया गया था। उनको आज्ञा नहीं थी कि अपने हलके फार को खड्ग में बदल लें। उनके पास संगीनें नहीं थीं। इसलिये जो चाहता था उन को गिरा कर उन की छाती पर बैठ सकता और बैठ जाता था। चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के कारण वे विद्या प्राप्त नहीं कर सकते थे। वे अपनी मुक्ति का उपाय जान या सोच नहीं सकते थे। उनको कलङ्कित करके नीच ठहरा दिया था। अपने उद्धार का मार्ग न जानने और पथ निकलने का कोई साधन न होने से वे इस शाश्वत दासता के साथ सम्मत हो गये। इस दासता को उन्होंने एक ऐसी भवितव्यता समझ कर स्वीकार कर लिया जिस से बचना असम्भव था।

यह सत्य है कि योरप तक में सबल निर्बलों के शोषण वरन् लुण्ठन से नहीं झिझके। परन्तु योरप में सबलों ने निर्बलों को

अपने शोषण को रोकने में असमर्थ बनाने के लिये ऐसी निर्ब
लता के उपाय नहीं निकाले जैसे कि भारत में हिंदुओं ने निका
थे। योरप में सबलों और निर्बलों के बीच जैसा प्रचन्ड साम
जिक युद्ध चलता रहा है वैसा भारत में कभी नहीं चला। इस प
भी योरप में निर्बलों को सैनिक सेवा की स्वतन्त्रता के प्रताप
शारीरिक शस्त्र, मताधिकार के कारण राजनीतिक शस्त्र औ
शिक्षा के कारण नैतिक शस्त्र मिल गया। योरप में सबलों
मुक्ति के ये तीन शस्त्र निर्बलों को देने से कभी इनकार न
किया। भारत में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था ने सर्व साधारण को इ
तीनों शस्त्रों से वंचित रक्खा।

चातुर्वर्ण्य से बढ़कर अपकर्षकारी समाज-रचना-पद्ध
दूसरी नहीं हो सकती। यह ऐसी पद्धति है जो लोगों
निर्जीव, और पंगु लंगड़ा बना कर उपकारक काम
रोक देती है। इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं।

इतिहास में इसके अनेक प्रमाण हैं। भारत के इतिह
में केवल एक ही ऐसा काल है जो स्वतंत्रता, महत्ता और की
है मौर्य साम्राज्य का युग। शेष सब युगों में
अंधकार का ही शिकार बना रहा। परन्तु
ाल था जब चातुर्वर्ण्य का पूर्ण रूप से उच्छेद
व शूद्र, जो सर्वसाधारण प्रजा थे, होश संभाल
सक बन गये। पराजय और अंधकार का युग

यह युग है जब चातुर्वर्ण्य देश की अधिकांश प्रजा को पददलित करके मद फूल रहा था।

(१८)

क्षत्रियों और ब्राह्मणों की शत्रुता

चातुर्वर्ण्य नई चीज़ नहीं। यह उतना ही प्राचीन है जितने कि वेद हैं। यही एक कारण है जो आर्य समाजी लोग हमें इस पर विचार करने को कहते हैं। सामाजिक संगठन की पद्धति के रूप में यदि इसके इतिहास पर विचार किया जाय तो हम देखते हैं कि इसका परीक्षण करके देखा गया और यह फेल हो गया। कितनी बार ब्राह्मणों ने क्षत्रियों का बीज नाश किया? कितनी बार क्षत्रियों ने ब्राह्मणों का विध्वंस किया? महाभारत और पुराण ब्राह्मणों और क्षत्रियों के झगड़े की घटनाओं से भरे पड़े हैं। यहां तक कि वे छोटी छोटी बातों पर भी झगड़ने लगते थे कि रास्ते में मिल जाने पर दो में से पहले कौन प्रणाम करे, ब्राह्मण या क्षत्रिय? इतना ही नहीं कि ब्राह्मण क्षत्रियों के लिये और क्षत्रिय ब्राह्मणों के लिए आंख का कांटा हो गये थे, वरन् ऐसा प्रतीत होता है कि क्षत्रियोंका अत्याचार बहुत बढ़ गया था। चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के नियमानुसार शस्त्र धारण न कर सकने से सर्व साधारण जनता उस अत्याचार से बचाव के लिये सर्व-शक्तिमान भगवान से प्रार्थना कर रही थी। भागवत पुराण बहुत ही निश्चित रूप से हमें बताता है कि कृष्ण का अवतार

क पवित्र उद्देश्य के लिये हुआ था और यह उद्देश्य था। त्रियों का नाश। विभिन्न वर्णों में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता एवं त्रुता के ऐसे उदाहरण देखते हुये भी, मैं नहीं समझता कि ोई मनुष्य कैसे चातुर्वर्ण्य को आदर्श के रूप में पेश कर सकता ा ऐसा नमूना बता सकता है जिस पर हिन्दू-समाज को ुबारा गढ़ना चाहिये।

(१९)

सशस्त्र तटस्थता

अब तक मैंने उन लोगोंकी आलोचना की है जो आपके साथ नहीं हैं और आपके आदर्श के प्रति जिनका विरोध बिलकुल स्पष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ लोग ऐसे भी हैं जो न आपके विरुद्ध हैं और न आपके साथ हैं। मैं हिचकचा रहा था कि मुझे उनके दृष्टिकोण की आलोचना करनी चाहिये या नहीं। परन्तु अधिक विचार करने पर मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूँ कि उनके मत की आलोचना अवश्य होनी चाहिए। इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि जातिभेद के प्रति उनका भाव केवल तटस्थता का नहीं, वरन् सशस्त्र तटस्थता का है। दूसरा यह कि उन के विचार के काफी मनुष्य हैं। उनमें से एक दल ऐसा है जिसको हिन्दुओं की जाति-प्रथा में न कोई अनोखी और न कोई घृणाजनक बात दीखती है। ऐसे हिन्दू मुसलमानों, सिक्खों और ईसाईयों का उदाहरण देते हैं। उन्हें इस बात से ढाढस मिलता

है कि उनमें भी जात पांत है। इस प्रश्न का विचार करते समय आपको आरम्भ में ही मन में समझ लेना चाहिए कि मनुष्य-समाज कहीं भी एक समग्र वस्तु नहीं। यह सदा एकाधिक होता है। कर्म के जगत् में, व्यक्ति एक सीमा है और समाज दूसरी। इन दोनों के बीच छोटे बड़े विस्तार से सब प्रकार के साहचर्य-मूलक विन्यास, परिवार, मित्रताएं, सहयोग संघ, व्यापार-मण्डलियाँ, राजनीतिक दल, और चोरों एवं लुटेरों के जत्थे हैं। ये छोटे छोटे समूह सामान्यतः दृढ़तापूर्वक जुड़े हुए और बहुधा जातियों के समान ही वर्जनकारी होते हैं। उनके नियम संकीर्ण एवं प्रगाढ़ होते हैं वे बहुधा समाजविरोधी होते हैं। यह बात प्रत्येक समाज के सम्बन्ध में, चाहे योरप हो और चाहे एशिया, सत्य है।

इस बात का निश्चय करते समय कि क्या अमुक समाज आदर्श समाज है, पूछने की बात यह नहीं कि उस में दल हैं या नहीं, क्योंकि दल तो सभी समाजों में होते हैं। इस बात का निश्चय करने के लिए कि अमुक समाज आदर्श समाज है या नहीं जो प्रश्न पूछे जाने चाहिएँ वे ये हैं:—व्यापार कितने बहुसंख्यक एवं विभिन्न हैं जिन में ये दल जान बूझ कर भाग लेते हैं? दूसरे प्रकार के संघों के साथ मिल कर वे कहां तक पूर्ण और स्वतन्त्र रूप से काम करते हैं।

क्या उन समूहों और श्रेणियों को पृथक्-पृथक् करने वाली शक्तियाँ उनको जोड़ने वाली शक्तियों से संख्या में अधिक हैं?

इस समूह-जीवन का सामाजिक अर्थ क्या समझा जाता है ? क्या इनका अलग थलग रहना केवल रिवाज और सुविधा के कारण है या यह धर्म की बात है ? इन प्रश्नों के प्रकाश में ही हमें इस बात का निश्चय करना चाहिए कि अहिन्दुओं में भी जात-पांत वैसी ही है, जैसी कि हिन्दुओं में। यदि आप इस दृष्टि से एक ओर मुसलमानों, सिक्खों और ईसाइयों की जातों-पांतों को और दूसरी ओर हिन्दुओं की जातों-पांतों को देखेंगे, तो आपको मालूम हो जायगा कि अहिन्दुओं में जात-पांत हिन्दुओं की जात पांत से मूलतः भिन्न है।

पहली बात यह है कि हिन्दुओं में ऐसे बन्धनों का सर्वथा अभाव है, जो उनको ज्ञानतः इकट्ठे रखते हों। समाज की शक्ति संपर्क की बातों और समाज में विद्यमान विभिन्न समूहों में पारस्परिक क्रिया की सम्भावनाओं की विद्यमानता पर निर्भर करती है। इन को कार्लायल "आंगिक सूत्र" कहता है, अर्थात् वे लचकदार धागे जो टुकड़े होने वाले तत्वों को एकत्र करके दुबारा जोड़ने में सहायता देते हैं। हिन्दुओं में कोई ऐसी संयोजक शक्ति नहीं जो वर्ण-भेद से उत्पन्न होने वाली छिन्न भिन्न-कारिणी क्रिया का प्रतिकार कर सके। इसके विपरीत अहिन्दुओं में उनको एकत्र रखने वाले बन्धन अनेक हैं। फिर इस बात को भी भूलना नहीं जाना चाहिए कि यद्यपि अहिन्दुओं में भी जात-पांत है, परन्तु वे इसको वह सामाजिक महत्व नहीं देते, जो हिन्दू देते हैं। किसी मुसलमान या ईसाई से पूछिये कि तुम कौन हो। वह

आपको उत्तर देगा कि मैं मुसलमान हूँ, या ईसाई हूँ। वह आपको अपनी 'जात' नहीं बतायेगा, यद्यपि उसकी जात है, और आप उसके उत्तर से सन्तुष्ट हो जाते हैं। जब वह आपसे कहता है कि मैं मुसलमान हूँ, तो आप उससे यह नहीं पूछते कि शिया हो या सुन्नी; शेख हो या सैयद, खटीक हो या जुलाहा। जब कोई सिक्ख कहता है कि मैं सिक्ख हूँ, तो फिर उससे यह नहीं पूछा जाता कि तुम जाट हो या अरोड़ा, मजहबी हो या रामदासी। परन्तु जब कोई मनुष्य कहता है कि मैं हिन्दू हूँ, तो आपको उससे सन्तोष नहीं होता। आपको उसकी 'जाति' पूछने की आवश्यकता का अनुभव होता है। क्यों? क्योंकि हिन्दू की अवस्था में 'जाति' इतनी आवश्यक है कि उसको जाने बिना आप इस बात का निश्चय नहीं कर सकते कि वह किस प्रकार का मनुष्य है।

जाति-पांति को तोड़ने का क्या परिणाम होता है, यदि आप इस पर विचार करेंगे, तो आपको स्पष्ट हो जायगा कि अहिन्दुओं में जात-पांत का वह सामाजिक महत्व नहीं, जो हिन्दुओं में है मुसलमानों और सिक्खों में जात पांत बेशक हो, परन्तु वे जात-पांत तोड़ने वाले मुसलमान या सिक्ख को जाति-बहिष्कृत नहीं करते। वास्तव में जाति-बहिष्कार की भावना ही ईसाइयों और मुसलमानों के लिए एक अपरिचित सी बात है। परन्तु हिन्दुओं की अवस्था इससे सर्वथा भिन्न है। जात-पांत को तोड़ डालने पर हिन्दू का बहिष्कृत हो जाना निश्चित है।

इससे पता लगता है कि हिन्दुओं और अहिन्दुओं में जात-पांत के महत्व के सम्बन्ध में कितना भारी अन्तर है। भिन्नता की यह दूसरी बात है।

इसके अतिरिक्त भिन्नता की एक तीसरी और अधिक महत्व-पूर्ण बात भी है। अहिन्दुओं में जात-पांत को कोई धार्मिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं। परन्तु हिन्दुओं में निश्चय ही इसे धार्मिक प्रतिष्ठा प्राप्त है। अहिन्दुओं में जात-पांत एक प्रथा है, कोई पवित्र संस्था नहीं। उन्होंने इसको जन्म नहीं दिया। वे तो इसे एक पुराना रोग समझते हैं। वे जात-पांत को कोई धार्मिक सिद्धान्त नहीं मानते। धर्म हिन्दुओं को बाध्य करता है कि वे वर्णों और उपवर्णों के पृथकत्व को सद्गुण समझें। परन्तु धर्म अहिन्दुओं को जात-पांत के प्रति यही भाव रखने को बाध्य नहीं करता। यदि हिन्दू जात-पांत को तोड़ना चाहते हैं, तो उनका धर्म रास्ते में आ खड़ा होता है। इस बात को जानने की कुछ भी परवा न करके कि जात-पांत का अहिन्दुओं के जीवन में क्या स्थान है और उनमें ऐसे "आङ्गिक सूत्र" भी हैं जो जात-पांत की भावना को बिरादरी या समाज की भावना के नीचे दबा देते हैं, अहिन्दुओं में केवल जात-पांत का अस्तित्व देख कर ही अपने को ढाढ़स देना एक भयानक भ्रम है। हिन्दुओं को जितनी जल्दी इस भ्रम से छुटकारा मिले, उतना ही अच्छा है।

एक दल ऐसा है, जो मानता ही नहीं कि वर्ण-भेद ने हिन्दुओं की कुछ हानि की है, इसलिए वह इस पर विचार

करने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझता। ऐसे हिन्दू इसी बात में सान्त्वना पा रहे हैं कि हिन्दू अभी तक बचे रहे हैं। वे इस बात को अपने जीवित रहने की योग्यता का प्रमाण समझते हैं। इस दृष्टिकोण को प्रोफेसर एस० राधाकृष्णन ने अपनी "Hindu View of life" नामक पुस्तक में भली भांति प्रकट किया है। हिन्दू-धर्म के सम्बन्ध में वे कहते हैं—'स्वयं हिन्दू-सभ्यता भी अल्पजीवी नहीं हुई। इस के ऐतिहासिक लेख चार सहस्र वर्ष से भी अधिक पुराने हैं। तब भी यह सभ्यता की ऐसी अवस्था को पहुँच चुकी थी जिसने अपनी अक्षुण्ण गति वर्तमान काल तक जारी रखी है, यद्यपि यह बीच में कभी कभी मन्द और अचल भी हो जाती रही है। यह आध्यात्मिक विचार और अनुभव के चार पांच से भी अधिक सहस्राब्दों का बोझ और दबाव सहन कर चुकी है। यद्यपि ऐतिहासिक काल के आरम्भ से ही विभिन्न वंशों और संस्कृतियों के लोग भारत में आते रहे हैं, तो भी हिन्दू धर्म अपने प्राधान्य को बनाए रख सका है। यहां तक कि विधर्मियों को अपने में मिला लेने वाले धर्म भी, अपने पीछे राजनीतिक शक्ति रखते हुए भी, हिन्दुओं की एक बड़ी बहुसंख्या को तंग करके अपने विचारों का नहीं बना सके। हिन्दू-संस्कृति में कोई ऐसी जीवनी-शक्ति है, जो कई दूसरी अधिक प्रबल धाराओं को मिली नहीं प्रतीत होती। जिस प्रकार यह देखने के लिए कि पेड़ में अभी रस है या नहीं, उसे काट कर देखना व्यर्थ है, वैसे ही हिन्दू-धर्म की चीर-फाड़ की

है चिरस्थाई रूप से जीना नहीं है वरन् वास्तव में एक ऐसा जीवन है जो चिरस्थाई रूप से नष्ट हो रहा है। यह बच कर जीते रहने की एक ऐसी रीति है, जिस के लिये प्रत्येक शुद्ध विचार वाले हिन्दू को, जो सत्य को स्वीकार करने से नहीं डरता, लज्जा का अनुभव होगा।

(२०)
वर्ण-भेद को मिटाने के उपाय

मेरे मत से इसमें कोई संदेह नहीं कि जब तक आप अपनी सामाजिक व्यवस्था को नहीं बदलते तब तक आप बहुत कम उन्नति कर सकेंगे। आप समाज को न आत्मरक्षा के लिये और न दूसरे पर आक्रमण करने के लिये तैयार कर सकते हैं। आप जाति-भेद के आधार पर किसी चीज़ का निर्माण नहीं कर सकते। आप न राष्ट्र का निर्माण कर सकते हैं और न सदाचार का। जाति भेद के आधार पर आप जो भी वस्तु बनायेंगे वह फट जाएगी और कभी अखण्ड न रह सकेगी।

विचार के लिये यही एक प्रश्न बाकी है कि अब हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था का सुधार कैसे हो? जाति भेद को नष्ट कैसे किया जाय? यह प्रश्न बड़े ही महत्व का है। कुछ लोगों की सम्मति है कि जाति-भेद को मिटाने के लिए पहले उपजातियों को मिटाना चाहिये। जिन लोगों का यह विचार है वे समझे हुए हैं कि उप जातियों के रीति-रिवाज और

ाजिक स्थिति में मुख्य जातियों की अपेक्षा अधिक सादृश्य
मैं समझता हूँ, उनकी यह कल्पना अशुद्ध है। उत्तरी और
य भारत के ब्राह्मण बम्बई और मद्रास के ब्राह्मणों की तुलना
सामाजिक रूप से निचले दर्जे के हैं। पूर्वोक्त तो केवल
ोइये और पानी भरने वाले ही हैं, परन्तु शेषोक्त की
माजिक स्थिति ऊँची है इसके विपरीत उत्तर भारत में वैश्य
र कायस्थ बौद्धिक और सामाजिक रूप से बम्बई और
द्रास के ब्राह्मणों के बराबर हैं।

फिर भोजन के विषय में बम्बई तथा मद्रास के ब्राह्मणों
जो निरामिषभोजी है और काश्मीर तथा बङ्गाल के ब्राह्मणों
, जो मांसाहारी हैं कोई सादृश्य नहीं। इसके विपरीत बम्बई
था मद्रास के ब्राह्मण भोजन की बातों में गुजराती, मारवाड़ी,
ानिये और जैन आदि निरामिष-भोजी अब्राह्मणों से अधिक
मलते हैं। इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि एक जाति से दूसरी
ाति में जाने के दृष्टिकोण से उत्तर भारत के कायस्थों और
मद्रास के दूसरे ब्राह्मणेतरों का बम्बई तथा द्रविड़ देश के
ब्राह्मणेतरों के साथ मिश्रण मद्रास के ब्राह्मणों के उत्तर के ब्राह्म-
णों के साथ मिश्रण की अपेक्षा अधिक व्यवहार्य है। परन्तु यदि
पल भर के लिये मान भी लिया जाय कि उपजातियोंका मिश्रण
सम्भव है तो इस बात की क्या ज़मानत है कि उपजातियों को
तोड़ देनेसे मुख्य जातियाँ भी जरूर टूट जायंगी ? इसके
विपरीत हो सकता है कि उपजातियों के टूटने के साथ ही काम

बन्द हो जाय । ऐसी अवस्था में, उपजातियों के टूटने से मुख्य जातियों की शक्ति ही बढ़ेगी, जिससे वह अधिक बलवान बनकर अधिक अनिष्ट करने लगेंगी । इसलिए यह उपाय न तो साध्य है और न कार्यकर ही । यह आसानी से एक ग़लत इलाज साबित हो सकता है ।

जाति–भेद को नष्ट करने के लिए काम करने की दूसरी पद्धति यह कही जाती है कि पहले अन्तरवर्णीय सहभोज आरम्भ किये जायें । मेरी राय में यह उपाय भी अल्प है । अनेक जातियाँ ऐसी हैं जिनमें सहभोज होता है । परन्तु यह सब किसी के अनुभव की बात है कि सहभोज जाति-भेद के भाव को और जाति-भेद की चेतना को मारने में सफल नहीं हुआ । मेरा विश्वास है कि वास्तविक उपाय अन्तरवर्णीय विवाह है । केवल रक्त का मिश्रण ही स्वजन और मित्र होने का भाव पैदा कर सकता है । जब तक मित्र होने, भाई-बन्धु होने का भाव प्रधान नहीं होता, जाति-भेद द्वारा उत्पन्न किया हुआ वियोजक भाव, पराया होने का भाव, कभी दूर न होगा । अन्तर्जातीय विवाह को हिन्दुओं के सामाजिक जीवन में जितना प्रबल साधन होने की आवश्यकता है उतनी अहिन्दुओं के सामाजिक जीवन में नहीं । जहां समाज पहले ही दूसरे बन्धनों से आपस में खूब ओत-प्रोत हो, वहां विवाह जीवन की एक साधारण सी घटना होती है । परन्तु जहां समाज कट कर टुकड़े-टुकड़े हो रहा हो, वहां इकट्ठा करने वाली शक्ति

पांत कोई स्थूल वस्तु नहीं, जो हिन्दुओं को आपस में मिलने से रोकती है और जिसे गिराने की आवश्यकता हो। जाति-पाँत एक भावना है, मन की एक अवस्था है। इस लिए जात-पांत तोड़ने का अर्थ किसी स्थूल रुकावट को नष्ट करना नहीं। इसका अर्थ भावना का बदलना है। जाति-भेद बुरा हो सकता है, जाति-भेद ऐसा बुरा आचरण करा सकता है जो मनुष्य के प्रति मनुष्य की पाशविकता बढ़ला सकती है। परन्तु इसके साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दू जाति-भेद को इस लिये नहीं मानते कि वे क्रूर हैं या उनके मस्तिष्क में कुछ विकार है। वे जाति-भेद के इस लिए पाबन्द हैं कि उनको धर्म प्राणों से भी प्यारा है। जाति-भेद को मानने में लोगों की भूल नहीं। भूल उन धर्म-ग्रन्थों की है जिन्होंने यह भावना उनमें उत्पन्न की है। यदि यह बात ठीक हो तो जिस शत्रु के साथ आपको लड़ना है वह जाति-भेद को मानने वाले लोग नहीं, वरन् वे शास्त्र हैं जो उन्हें इस वर्ण-भेद का धर्मोपदेश देते हैं। जाति-भेद को तोड़कर रोटी-बेटी-सम्बन्ध न करने के लिये लोगों की हंसी उड़ाना और आलोचना करना अथवा कभी कभी अन्तरजातीय सहभोज तथा जात-पांत तोड़क विवाह कर लेना मनोवाञ्छित उद्देश्य की प्राप्ति का एक व्यर्थ साधन है। सच्चा इलाज तो उन शास्त्रों की पवित्रता में लोगों का विश्वास नष्ट करना है। यदि उन शास्त्रों पर लोगों का विश्वास बना रहेगा तो आपको सफलता की आशा कैसे हो सकती है? शास्त्रों को प्रमाण मानने से इनकार

न करना, इनकी पवित्रता और विधानों में लोगों का विश्वास बना रहने देना, और साथ ही उनके धर्म को अयुक्तियुक्त और पाशविक बता कर उन्हें दोष देना एवं उनकी आलोचना करना सामाजिक सुधार की एक बहुत ही असंगत रीति है।

जो सुधारक अस्पृश्यता दूर करने का यत्न कर रहे हैं, जिनमें महात्मा गांधी भी शामिल हैं, ऐसा जान पड़ता है, वे इस बात को नहीं समझते कि लोगों के आचरण उन विश्वासों के परिणाम मात्र हैं जो शास्त्रों ने उनके मन में बैठा दिये है। लोग तब तक अपने इस आचरण को नहीं बदल सकते जब तक कि उन का विश्वास उन शास्त्रों पर से नष्ट नहीं होता जो उनके आचरण के आधार हैं। इस लिये यदि जात-पांत तोड़क आन्दोलनों को अभी तक इतनी सफलता नहीं हुई तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। मालूम होता है आप भी वही भूल कर रहे हैं, जो छूत-छात दूर करने वाले कर रहे हैं। अन्तर्वर्णीय सहभोजों और विवाहों के लिए आन्दोलन एवं प्रबन्ध करना किसी के भीतर कृत्रिम उपायों से ज़बरदस्ती भोजन ठूंसने के समान है। प्रत्येक स्त्री और पुरुष को शास्त्रों की दासता से मुक्त कर दीजिए, शास्त्रों पर आश्रित हानिकारक भावनाओं को उनके मन से निकाल डालिए, फिर आप को उन से कुछ कहने की आवश्यकता न रहेगी। वे अपने आप जात-पांत तोड़ कर खान-पान और ब्याह शादी करने लगेंगे।

वाक् छल की शरण लेने से कुछ लाभ नहीं। लोगों को यह

कहने से कुछ लाभ नहीं कि शास्त्र वह बात नहीं कहते जो तुम विश्वास किये बैठे हो। महत्व की बात यह नहीं कि व्याकरण की दृष्टि से पढ़ने अथवा तर्क की दृष्टि से व्याख्या करने पर, शास्त्र क्या कहते हैं। परम महत्व की बात यह है कि लोग शास्त्रों का अर्थ क्या लेते हैं। आप को वही स्थिति ग्रहण करनी चाहिए जो बुद्ध ने ग्रहण की थी। आपकी स्थिति वही होनी चाहिए जो गुरु नानक की थी। आपको शास्त्रों का केवल परित्याग करने की नहीं, वरन् बुद्ध और नानक की तरह उन को प्रामाणिक या धर्म-ग्रन्थ मानने से इनकार करने की भी आवश्यकता है। आप में इतना साहस होना चाहिए कि आप हिन्दुओं से कह सकें कि तुम्हारी सारी खराबी तुम्हारे धर्म के कारण है, उस धर्म के कारण जिसने तुम में जातिभेद की पवित्रता की झूठी भावना उत्पन्न कर रक्खी है। क्या आप यह साहस दिखलायेंगे ?

[२१]

जाति-भेद क्यों नहीं मिटता ?

आप को सफलता की कितनी सम्भावना है ? सामाजिक सुधारों के भी विभिन्न प्रकार हैं। सुधार का एक प्रकार ऐसा है जिसका सम्बन्ध लोगों की धर्म-भावना के साथ नहीं, वरन् उसका रूप शुद्ध लौकिक है। सुधार का दूसरा प्रकार ऐसा है जिसका सम्बन्ध जनता की धर्म-भावनाओं के साथ है। इस

दूसरे प्रकार के सुधार के फिर आगे दो उपभेद हैं। उनमें से एक में सुधार-धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार होता है, और जिन लोगों ने उन सिद्धान्तों को छोड़ दिया है उनको यह दुबारा उन पर चलने को कहता है। दूसरा भेद वह सुधार है जो न केवल धार्मिक सिद्धान्तों से स्पर्श करता है, वरन् उन सिद्धान्तों से ठीक उलटा होता है। वह लोगों को उन सिद्धान्तों को छोड़ देने, उनके प्रमाण को न मानने और उनके विपरीत आचरण करने को कहता है। जाति-भेद विशेष धार्मिक विश्वासों का ही स्वाभाविक परिणाम है। इन विश्वासों को शास्त्रों का अनुमोदन प्राप्त है। लोगों का विश्वास है कि इन शास्त्रों में ईश्वरीय अनुप्रेरणा प्राप्त ऋषियों की आज्ञाएं भरी हैं और कि उन ऋषियों में अलौकिक दूरदर्शिता थी, इसलिए उनकी आज्ञाओं का उल्लंघन करना महापाप है। जाति भेद का उच्छेद एक ऐसा सुधार है जो तीसरी श्रेणी में आता है। लोगों को जाति-भेद को छोड़ने के लिए कहना उनको उनकी आधारभूत धार्मिक भावनाओं के विरुद्ध चलने को कहना है। यह स्पष्ट है कि पहले और दूसरे प्रकार के सुधार सरल हैं। परन्तु तीसरा एक अति विशाल कार्य है, जो प्रायः असम्भव है। हिन्दू अपनी समाज-व्यवस्था को पवित्र मानते हैं। वे वर्ण-व्यवस्था को ईश्वरीय विधान समझते हैं। इसलिए वर्ण-व्यवस्था के पवित्र और ईश्वरीय विधान होने की जो भावना लोगों के मन में बैठा दी गई है आप को उसे नष्ट करना

आवश्यक है। यह बात तभी हो सकेगी जब आप वेदों और शास्त्रों को भगवद्वाणी और आप्तवचन मानना छोड़ देंगे।

मैंने जाति-भेद को नष्ट करने की रीतियों और साधनों के इस प्रश्न पर इस लिए बल दिया है क्यों कि मेरा विचार है कि उचित रीतियों और साधनों को जानना आदर्श को जानने की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। यदि आप को सच्ची रीतियों और साधनों का ज्ञान नहीं तो आप की चलाई हुई कोई भी गोली निशाने पर नहीं बैठेगी। यदि मेरा विश्लेषण ठीक है तो आप का काम बहुत दुष्कर है। केवल आप ही बता सकते हैं कि आप में इसे पूरा करने का सामर्थ्य है या नहीं।

यदि मुझ से पूछा जाय तो मैं कहूँगा कि यह काम प्रायः असम्भव है। शायद आप जानना चाहेंगे कि मेरा ऐसा विचार क्यों है। ऐसा मत बनाने के लिऐ मेरे पास कारण तो अनेक हैं, परन्तु मैं यहां उल्लेख उन्हीं का करूंगा जिनको मैं अधिक महत्वपूर्ण समझता हूं।

इसका एक कारण शत्रुता का वह भाव है जो ब्राह्मणों ने इस समस्या के प्रति दिखलाया है। ब्राह्मण राजनीतिक सुधार और, कुछ अवस्थाओं में आर्थिक सुधार के आन्दोलन की अग्रगामी सेना बने हुए हैं। परन्तु जाति भेद के कच्चे मोर्चों को तोड़ने के लिए तैयार की गई सेना में वे पीछे चलने वाले खलासी भी नहीं बनते। क्या इस कार्य में भविष्य में ब्राह्मणों के नेता बन कर आगे आने की कोई आशा है? मेरा उत्तर

है, और जो मनुष्य पोप बनता है उसे क्रान्तिकारी बननेकी कोई इच्छा नहीं होती।"

मैं समझता हूँ यह शब्द भारत के ब्राह्मणों पर भी समान रूप से चरितार्थ होते हैं। हम उतनीही सचाईके साथ कह सकते हैं कि जिसप्रकार जो मनुष्य पोप बनता है उसे क्रान्तिकारी बननेकी कोई इच्छा नहीं होती उसी प्रकार जो मनुष्य ब्राह्मणके घर जन्म लेता है उसे क्रान्तिकारी बननेकी उससे भी कम इच्छा होती है। वास्तव में सामाजिक सुधार की बातों में ब्राह्मण से क्रान्तिकारी होने की आशा करना, लेज़ली स्टीफनके शब्दों में, उतना हीव्यर्थ है, जितना ही ब्रिटिश पार्लियामेण्ट से सभी नीली आँखों वाले बच्चों को मार डालने का कानून पास कर देने की आशा करना।

आप में से कुछ लोग कहेंगे कि जाति-भेद तोड़ने के आन्दोलनमें ब्राह्मण आगे आयँ या न आयँ, इसमें मुजायक़ा ही क्या है। मेरी समझ में ऐसी धारणा रखना उस महत्वसे आँखें मूँद लेना है जो किसी समाजमें बद्धि-जीवी श्रेणीको प्राप्त होता है। आप चाहे इस मतको मानें या न मानें कि महापुरुष ही इतिहासका निर्माता होता है, इतना तो आपको मानना ही पड़ेगा कि प्रत्येक देश में बौद्धिक श्रेणीही सब से अधिक प्रभावशाली श्रेणी होती है, चाहे वह शासक श्रेणी न भी हो। बुद्धि-जीवी श्रेणी ही ऐसी श्रेणी होती है जो पहले से किसी बात को देख सकती है, यही श्रेणी परामर्श दे सकती है और नेतृत्व करसकती है। किसी भी देशमें जनसाधारण सुबोध विचार एवं सज्ञान कर्मका जीवन

व्यतीत नहीं करते। वे तो प्रायः नकल करते हैं और बुद्धि-जीवी श्रेणी के पीछे चलते हैं। इस बात में कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं कि किसी देश का समूचा भाग्य उस की बुद्धि-जीवी श्रेणी पर निर्भर करता है। यदि वह श्रेणी ईमानदार, स्वाधीन और निष्पक्ष हो तो उसपर विश्वास किया जासकता है कि संकट आनेपर वह नेतृत्व करके मार्ग दिखाएगी।

यह सच है कि बुद्धि स्वयमेव कोई सद्गुण नहीं। यह तो एक साधन मात्र है और साधनका उपयोग उस लक्ष्य पर निर्भर है जिसके लिये बुद्धिमान मनुष्य यत्न करता है। बुद्धिमान मनुष्य धर्मात्मा हो सकता है। परन्तु वह आसानी से दुरात्मा भी हो सकता है। इसी प्रकार एक बुद्धि-जीवी श्रेणी ग़लती करने वाले मनुष्यों का उद्धार करने वाली और सहायता देने के लिये तैयार उच्च-आत्माओं का एक समूह हो सकती है, अथवा यह आसानी से दुष्टों का दल या किसी ऐसे संकीर्ण टोले के समर्थकों का जत्था हो सकती है जिस से उसे पुष्टि मिलती है।

आप इसे एक खेद का विषय समझ सकते हैं कि भारत में बौद्धिक श्रेणी ब्राह्मण जाति का केवल एक दूसरा नाम है। आप को खेद हो सकता है कि दोनों एक ही चीज हैं, बौद्धिक श्रेणी का अस्तित्व एक ही जाति के साथ बँधा हुआ है, यह बौद्धिक श्रेणी ब्राह्मण जाति के हितों तथा आकांक्षाओं में भाग लेती है; और यह अपने को देश के हितों का नहीं वरन् उस जाति के ही हितों का रक्षक समझती

है। यह सब बहुत ही शोचनीय बातें हो सकती हैं। परन्तु यह सचाई बराबर बनी रहती है कि ब्राह्मण हिन्दुओं की बौद्धिक श्रेणी हैं। यह केवल बौद्धिक श्रेणी ही नहीं वरन् यह एक ऐसी श्रेणी है जिसे बाकी हिन्दू बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते है। हिन्दुओं को सिखाया जाता है कि ब्राह्मण भूदेव (पृथ्वी के देवता) हैं। हिन्दुओं को सिखाया जाता है कि केवल ब्राह्मण ही तुम्हारे गुरू हो सकते हैं—वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।

मनु कहता है:—

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्,

यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः।

अर्थात् धर्म की जिन बातों का विशेष रूप से वर्णन नहीं यदि उन के विषय में पूछा जाय, तो उत्तर यह होना चाहिए कि ब्राह्मण जो कि शिष्ट हैं, जिस का प्रतिपादन करें, निस्सन्देह वही कानून या धर्म है।

जब ऐसी बौद्धिक श्रेणी जो बाकी समाज को अपनी मुट्ठीमें किए हुए है, जाति-भेद के सुधार के विरुद्ध हो तो जाति-भेद को तोड़नेके लिए खड़े किए गये आन्दोलनकी सफलता के संयोग मुझे बहुत ही कम दिखाई देते हैं।

मैं इस कामको असम्भव क्यों कहताहूं, इसका दूसरा कारण आप पर स्पष्ट हो जायगा यदि ध्यान रक्खेंगे कि जाति-भेद के दो रूप हैं। अपने एक रूप में यह मनुष्यों को अलग अलग बिरादरियों में बाँटता है। अपने दूसरे रूप में इसने इन बिरादरि

योंको सामाजिक स्थितिमें एक दूसरे के ऊपर क्रमबद्ध शृङ्खलामें रख दिया है। प्रत्येक जाति को इस बात का अभिमान और दावा है कि जातियोंके क्रम में मैं किसी दूसरी जाति से ऊपर हूँ! इस क्रम-विन्यास के बाहरी चिन्ह के रूप में सामाजिक और धार्मिक अधिकारों का भी क्रम-विन्यास है। इन अधिकारों को अष्टाधिकार और संस्कार कहते हैं। किसी जाति का पद जितना ऊँचा है उस के अधिकारों की संख्या उतनी ही अधिक है, और जितना पद नीचा है उतनी ही उनकी संख्या कम है। अब यह क्रम-विन्यास, यह जातियों की शृंखला सब लोगों को मिलकर जाति-भेद के विरुद्ध संगठित नहीं होने देती। यदि कोई जाति अपने से ऊपर वाली जाति के साथ रोटी-बेटी-सम्बन्ध के अधिकार का दावा करती है, तो धूर्त लोग जिन में अनेक ब्राह्मण हैं, जब उसे कहते हैं कि तुम्हें भी अपने से छोटी जातियोंके साथ रोटी-बेटी-सम्बन्ध करना पड़ेगा' तो उसे तत्काल चुप हो जाना पड़ता है।

सभी जाति-भेद के दास हैं। परन्तु सभी दासों को एक समान दुःख नहीं। आर्थिक क्रान्ति लाने के उद्देश्य से सर्वहारा मनुष्य को उकसाने के लिये कार्ल मार्कसने उनसे कहा था, "इस क्रान्ति में तुम्हारी हथकड़ियाँ कट जाने के सिवाय तुम्हारी और कोई हानि नहीं होगी।" विभिन्न जातियों में जिस चालाकी से सामाजिक और धार्मिक अधिकार बाँटे गये हैं, जिससे किसी को कम मिले हैं और किसी को ज़ियादा, उसको देखतेहुए आप

हिन्दुओं को जाति भेद के विरुद्ध भड़काने के लिए उसी रणनाद का उपयोग नहीं कर सकते जिसे कार्ल मार्क्स ने किया था। जाति-भेद तो एक राज्य के भीतर दूसरा राज्य है। जाति-भेद मिटने से कुछ जातियों के अधिकार और प्रभुता की अधिक हानि होगी और कुछ की कम। इस लिए जाति-भेद के दुर्ग पर आक्रमण करने के लिए सब हिन्दुओं के आप की सेना में भरती होने की आशा आप नहीं कर सकते।

(२२)

हिन्दू और विवेक बुद्धि

क्या आप विवेक बुद्धि के नाम पर अपील करके हिन्दुओं से कह सकते हैं कि वर्णव्यवस्था विवेक के विरुद्ध है इसलिये इसे छोड़ दो? इससे यह प्रश्न उठ पड़ता है क्या हिन्दू को अपनी विवेक-बुद्धि के अनुसार चलने की स्वतन्त्रता है? मनुने तीन आज्ञाएँ दी हैं जिन के अनुकूल प्रत्येक हिन्दू को अपना व्यवहार रखना आवश्यक है—वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियात्मनः। यहाँ विवेक-बुद्धि को कोई स्थान नहीं। हिन्दू के लिये आवश्यक है कि या तो वह वेदके या स्मृतिके या सदाचार के अनुकूल व्यवहार करे। वह किसी दूसरी चीजका अनुसरण नहीं कर सकता। पहली बात यह है कि जब वेदों और स्मृतियों के अर्थ के संबंध में कोई संदेह उत्पन्न हो तो उन के पाठ की

व्याख्या कैसे की जाय ? इस महत्व-पूर्ण प्रश्न पर मनु का मत बिलकुल निश्चित है। वह कहता है—

योऽवमन्येत वै मूले हेतुशास्त्राश्रयात् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥

इस नियमके अनुसार, वेदों और स्मृतियोंकी व्याख्या करने की विधि के रूप में, बुद्धिवाद को बिलकुल निकम्मा ठहरा दिया गया है। इसे नास्तिकता के समान ही बुरा माना गया है और इसके लिये बहिष्कार दण्ड नियत किया गया है। इस प्रकार जहाँ भी कोई वेद की या स्मृति की बात हो, हिन्दू बुद्धि-पूर्वक उस पर विचार नहीं कर सकता। जिन विषयों पर वेद और स्मृति के स्पष्ट आदेश हों परन्तु दोनों के आदेशों में परस्पर विरोध हो, वहाँभी उसका समाधान बुद्धि पर नहीं छोड़ा गया। जब दो श्रुतियों में परस्पर विरोध हो तो दोनों को एक समान प्रमाण मानना चाहिए। उनमें से किसी एक का अनुसरण किया जा सकता है। उन दोनोंमें से कौन युक्ति और तर्क के अनुकूल है-इस बात को मालूम करने का कोई यत्न नहीं होना चाहिये। इसे मनु इस प्रकार स्पष्ट करता है—

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।

अर्थात् जहाँ श्रुति और स्मृति के बीच विरोध हो तो वहाँ श्रुति को प्रधान मानना चाहिए। परन्तु यहाँ भी यह नहीं कहा गया कि उन दो में से कौन बुद्धिके अनुसार है, यह मालूम करने का यत्न किया जाय। यह बात मनु आगेदिये श्लोकमें कहता है-

सको तो प्रायश्चित्त करलो प्रायश्चित्तके इस सिद्धांतसे शास्त्रोंने समझौतेके भावका अनुसरण करके जाति भेदको अमर-जीवन प्रदान कर दिया है और मनन-शील विचार का गला घोंट दिया है, जो अन्यथा जाति-भेदको भावनाके विध्वंसका कारण हो जाता।

अनेक लोगों ने जाति-भेद और अस्पृश्यता के निवारण के लिये काम किया है। जिन लोगों का उल्लेख किया जा सकता है उन में से रामानुज कबीर और दूसरे प्रमुख हैं। क्या आप इन सुधारकों के कामों को ले कर उनका अनुसरण करने के लिये हिन्दुओं को उपदेश दे सकते हैं? यह सच है कि मनुने श्रुति और स्मृति के साथ सदाचार को रक्खा है। वास्तव में सदाचार को शास्त्रों से भी उच्च पद दिया गया है—

यद्यद्धाचर्यते येन धर्म्यं वाऽधर्म्यमेव वा।
देशस्याचरणं नित्यं चरित्रं तद्धि कीर्तितम्॥

इसके अनुसार, सदाचार चाहे धर्म्य हो चाहे अधर्म्य, शास्त्रानुकूल हो या शास्त्र-विरुद्ध, उसका पालन अवश्य करना चाहिये। परन्तु सदाचार का क्या अर्थ है? यदि कोई यह मान ले कि सदाचार का अर्थ ठीक या अच्छे कर्म है, अर्थात् अच्छे और धर्मात्मा लोगोंके कार्य, तोवह भारीभूल करबैठेगा। सदाचार अर्थ अच्छे कर्म या अच्छे मनुष्योंके कर्म नहीं। इसका अर्थ ानी प्रथा, चाहे वह अच्छी हो या बुरी,निम्नलिखित श्लोक ात को स्पष्ट कर देता है—

भी कोई अवसर न दिया जाय। सैकड़ों सहस्रों हिन्दुओंको रेल यात्रा और विदेश-यात्रा जैसे कई अवसरों पर जातिभेदको तोड़ते परन्तु अपने शेष जीवन में उसे बनाए रखने का यत्न करते देख अनेक अहिन्दुओं को बड़ा कौतुक होता होगा। इस अद्भुत व्यापार का यदि आप कारण सोचने लगेंगे तो आप को हिन्दुओंकी विचार-शक्ति पर लगे हुए एक और बन्धन का पता लगेगा।

मनुष्य अपने जीवनके अधिकांश व्यापार प्रायः बिना सोचे स्वभाव से ही करता है। मनन-शील विचार, किसी विश्वास या कल्पित व्यवस्था या ज्ञान के, उस का समर्थन करने और जिन परिणामों की ओर उस की प्रवृत्ति है उनको सहायता देने वाले हेतुओंके प्रकाशमें, क्रियाशील अविचलित और सावधान विमर्श के अर्थ में, बहुत दुर्लभ है और केवल उसी स्थिति में उत्पन्न होता है जो एक असमंजस—एकसंकट-काल उपस्थित करती हो रेल यात्रा और विदेश-यात्रा हिन्दू के जीवन में सचमुच संकट के अवसर हैं और किसी हिन्दूसे यह आशा करना स्वाभाविक है कि वह अपने आप से पूछे कि यदि वह जात-पाँत के विषयोंका पालनसब समयोंमें नहीं कर सकता, तो वह जात-पांतको रखता ही क्यों है परन्तु कोई प्रश्न उठाए बिना दूसरे ही पगपर उसका पालन करने लगता है। इस विचित्र व्यवहार का कारण शास्त्रों की इस आज्ञा में मिलता है जो हिन्दू से कहती है कि जहां तक हो सके जात-पांत का पालन करो और जब तुम पालन न कर

या वेदबाह्या स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हिताः स्मृताः॥

अब फिर यदि दो स्मृतियों में विरोध हो तो मनुस्मृति की
माननी चाहिये। परन्तु इस बात को मालूम करने का कोई
नहीं होना चाहिए कि उन दो में से कौन बुद्धि के अनुकूल
इस विषय में बृहस्पति की आज्ञा इस प्रकार है—

वेदार्थत्वोपनिबंधृत्वत् प्रामाण्यं हि मनोः स्मृतं।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते॥

इसलिए यह स्पष्ट है कि जिस विषयमें श्रुतियों और स्मृतियों
निश्चित आदेश दिया हो, वहां हिन्दूको अपनी विवेक बुद्धिसे
म लेने की स्वतंत्रता नहीं! यही नियम महाभारत में इस
ार दिया गया है—

पुराणं मानवो धर्मः सांगो वेदश्चिकित्सितं।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

उसके लिए उनकी आज्ञाओं का पालन करना आवश्यक है,
तिभेद और वर्णभेद का वेदों और स्मृतियों में वर्णन है।
लतः विवेक बुद्धि की बात हिन्दू पर कोई प्रभाव नहीं डाल
कती। जहाँ तक जाति भेद और वर्ण भेद का संबंध है, प्रश्न
निर्णय में शास्त्र किसी हिन्दू को न केवल अपनी बुद्धि से
ाम लेने की ही अनुमति नहीं देते, वरन् उन्हों ने इस बात का
ी पूरा ध्यान रक्खा है कि हिन्दू को जाति-भेद और वर्ण-भेद
[illegible] निर्णय के आधार [illegible] त रीति से परीक्षा का

भी कोई अवसर न दिया जाय। सैंकड़ों सहस्रों हिन्दुओंको रेल यात्रा और विदेश-यात्रा जैसे कई अवसरों पर जातिभेदको तोड़ते परन्तु अपने शेष जीवन में उसे बनाए रखने का यत्न करते देख अनेक अहिन्दुओं को बड़ा कौतुक होता होगा। इस अद्भुत व्यापार का यदि आप कारण सोचने लगेंगे तो आप को हिन्दुओंकी विचार-शक्ति पर लगे हुए एक और बन्धन का पता लगेगा।

मनुष्य अपने जीवनके अधिकांश व्यापार प्रायः बिना सोचे स्वभाव से ही करता है। मनन-शील विचार, किसी विश्वास या कल्पित व्यवस्था या ज्ञान के, उस का समर्थन करने और जिन परिणामों की ओर उस की प्रवृत्ति है उनको सहायता देने वाले हेतुओंके प्रकाशमें, क्रियाशील अविचलित और सावधान विमर्श के अर्थ में, बहुत दुर्लभ है और केवल उसी स्थिति में उत्पन्न होता है जो एक असमंजस—एकसंकट-काल उपस्थित करती हो रेल यात्रा और विदेश-यात्रा हिन्दू के जीवन में सचमुच संकट के अवसर हैं और किसी हिन्दूसे यह आशा करना स्वाभाविक है कि वह अपने आप से पूछे कि यदि वह जात-पाँत के विषयोंका पालनसब समयोंमें नहीं कर सकता, तो वह जात-पांतको रखता ही क्यों है परन्तु कोई प्रश्न उठाए बिना दूसरे ही पगपर उसका पालन करने लगता है। इस विचित्र व्यवहार का कारण शास्त्रों की इस आज्ञा में मिलता है जो हिन्दू से कहती है कि जहां तक हो सके जात-पांत का पालन करो और जब तुम पालन न कर

सको तो प्रायश्चित्त करलो प्रायश्चित्तके इस सिद्धांतसे शास्त्रों
समझौतेके भावका अनुसरण करके जाति भेदको अमर-जीव
प्रदान कर दिया है और मनन–शील विचार का गला घों
दिया है, जो अन्यथा जाति-भेदको भावनाके विध्वंसका कार
हो जाता ।

अनेक लोगों ने जाति-भेद और अस्पृश्यता के निवारण
लिये काम किया है। जिन लोगों का उल्लेख किया जा सकता
उन में से रामानुज कबीर और दूसरे प्रमुख हैं। क्या आप इ
सुधारकों के कामों को ले कर उनका अनुसरण करने के लि
हिन्दुओं को उपदेश दे सकते है? यह सच है कि मनुने श्रुति
और स्मृति के साथ सदाचार को रक्खा है। वास्तव में सदाचा
को शास्त्रों से भी उच्च पद दिया गया है—

यद्यद्दाचर्यते येन धर्म्यं वाऽधर्म्यमेव वा ।
देशस्याचरणं नित्यं चरित्रं तद्धि कीर्तितम् ॥

इसके अनुसार, सदाचार चाहे धर्म्य हो चाहे अधर्म्य,
शास्त्रानुकूल हो या शास्त्र-विरुद्ध, उसका पालन अवश्य करना
चाहिये। परन्तु सदाचार का क्या अर्थ है? यदि कोई यह मान
ले कि सदाचार का अर्थ ठीक या अच्छे कर्म है, अर्थात् अच्छे
और धर्मात्मा लोगोंके कार्य, तोवह भारीभूल करबैठेगा। सदाचार
का अर्थ अच्छे कर्म या अच्छे मनुष्योंके कर्म नहीं। इसका अर्थ
है पुरानी प्रथा, चाहे वह अच्छी हो या बुरी,निम्नलिखित श्लोक
स बात को स्पष्ट कर देता है—

यस्मिन् देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः।
वर्णानां किल सर्वेषां सः सदाचार उच्यते ॥

मानो जनता को इस मत के विरुद्ध चेतावनी देने के लिये कि सदाचार का अर्थ अच्छे कार्य या अच्छे मनुष्यों के काम हैं और इस डर से कि कहीं लोग सदाचारका आशय यही समझ कर अच्छे मनुष्यों का अनुकरण करने लगें, स्मृतियों ने हिन्दुओं को स्पष्ट शब्दों में आदेश किया कि वे देवताओं के भी अच्छे कामोंका अनुकरण न करें यदि वे श्रुति-स्मृति और सदाचार के विरुद्ध हैं। हो सकता है कि यह बात कानों को बड़ी असाधारण और बड़ी दुष्ट प्रतीत हो, परन्तु यह एक सचाई है कि शास्त्रों का हिन्दुओं के प्रति आदेश है—न देवचरितं चरेत्।

सुधारक के शस्त्रागार में विचार शक्ति और नीति यही दो महाप्रबल शस्त्र होते हैं। उसको इनके उपयोगसे वंचित करदेना उसे काम करने के अयोग्य बना देना है। आप जाति भेद को कैसे मिटा सकते हैं, यदि लोगों को यह सोचनेकी स्वतन्त्रता ही नहीं कि क्या यह तर्क और बुद्धिके अनुसार है? आप जातियों को कैसे तोड़ सकते हैं। यदि यह सोचने की स्वतंत्रता नहीं कि क्या जात-पांत नीति के अनुकूल है? जाति भेद के इर्द-गिर्द जो दीवार बनाई गई है वह अभेद्य है, और जिस सामग्री की यह बनी है उसमें तर्क और नीतिरूपी दाह्य द्रव्य कुछ भी नहीं। इस सचाई के साथ यह बात भी बढ़ा दीजिये कि इस दीवारके भीतर ब्राह्मणोंकी सेना खड़ी है। उन ब्राह्मणोंकी जो देशकी

द्ध-जीवी श्रेणी है, जो हिन्दुओं के स्वाभाविक नेता हैं, जो
ां केवल भाड़े के सिपाहियों के रूप में नहीं, वरन् एक ऐसी
ना के रूप में जो अपनी वासभूमि की रक्षा के लिये लड़ रही
। तब आप की समझ में आ जायगा कि हिन्दुओं में जाति-
द को मिटाने को मैं तो प्रायः असम्भव समझता हूँ। जो भी
। इस जातिभेद रूप दुर्गको धराशायी करना चाहिये। परन्तु
हे तो इस काम को करने में समय लगेगा या चाहे यह जल्दी
हो जायगा, आपको यह नहीं भूलना चाहिये कि यदि आप
ति-भेद को मेटना चाहते हैं, तो आप को वेदों और शास्त्रों
डिनामाईट से उड़ा देना पड़ेगा, जिनमें तर्क को कोई स्थान
हीं, उन वेदों और शास्त्रों को जिन में नीति को स्थान नहीं।
ाप के लिये श्रुति स्मृति के धर्म को नष्ट कर देना आवश्यक है
सरी किसी बात से कुछ लाभ न होगा। इस विषय पर मेरा
ोचा समझा हुआ मत है।

हो सकता है कि कुछ लोग न समझें कि धर्म को नष्ट कर
ालने से मेरा क्या अभिप्राय है, हो सकता है कि कुछ लोगों
ो यह विचार विपरीत प्रतीत हो और कुछ को क्रान्तिकारी।
सलिये मैं अपनी स्थिति की व्याख्या करता हूं। मुझे मालूम
हीं, आप सिद्धान्तों और नियमों या विधियोंमें कोई भेद मानते
या नहीं। परन्तु मैं मानता हूं, इतना ही नहीं कि मैं इन में
ोद मानता हूं। वरन् यह भेद वास्तविक एवं महत्वपूर्ण है।
नियम व्यावहारिक होते हैं, वे निर्देश के अनुसार कामों को

करने की अभ्यस्त रीतियां होती हैं। परन्तु सिद्धान्त मानसिक हैं वे चीज़ों की जांचनेकी उपयोगी विधियाँ हैं। नियम कर्ताके बनाने का यत्न करते हैं कि उसे कार्य-क्रम पर चलना चाहिये। सिद्धांत किसी विशेष कार्य-क्रम का निर्देश नहीं करते। नियम, भोजन बनाने के नुसखों की तरह, अवश्य बताते हैं कि क्या करना चाहिये और कैसे करना चाहिये। सिद्धान्त, जैसे कि आप का सिद्धान्त एक प्रधान बात बता देता है जिस की अपेक्षा से कर्त्ता को अपनी अभिलाषाओं और प्रयोजनों की स्थिति पर विचार करना होता है। उसे यह महत्वपूर्ण विचार सुझाकर जिसको उसे ध्यान में रखना चाहिये, वह सोचने में उसका पथप्रदर्शन करता है। नियमों और सिद्धान्तों में यह भेद उनके अनुसार किये गये कर्मों को गुण एवं द्रव्य की दृष्टि में भिन्न बना देता है। जिसे नियम की दृष्टि से अच्छा कहा जासकता है उसे करना और सिद्धान्तकी दृष्टिसे अच्छाई करना ये दो विभिन्न बातें हैं।

प्रचलित हिन्दू धर्मग्रन्थों में जो धर्मका स्वरूप मिलता है वह निषेधों और विधानों के समूह के सिवा और कुछ नहीं आध्यात्मिक सिद्धान्तोंके अर्थ में धर्म, ऐसे सिद्धान्तोंके अर्थमें जो सचमुच सार्वभौमिक हों, जो सभी मानव-वंशों, सभी देशों और सभी कालों पर लागू हो सकें, नहीं मिलता, और यदि यह उनमें है तो हिन्दू के जीवन पर इसका कोई प्रभाव नहीं हिन्दू के लिए धर्म का अर्थ विधि और निषेध है। यह बात उस रीति से स्पष्ट है जिससे वेदों और स्मृतियोंमें धर्म शब्दका प्रयोग हुआ है और

जिस प्रकार भाष्यकारोंने इसे समझा है। धर्म शब्द का अर्थ जैसा कि इस शब्द का प्रयोग वेदों में हुआ है, अधिकांश अवस्थाओं में धार्मिक व्यवस्थाएं या अनुष्ठान हैं। यहां तक कि जैमिनि अपने पूर्व-मीमांसा में धर्म का लक्षण इसप्रकार करता है "एक वाञ्छनीय लक्ष्य या परिणाम जो (वेद के) निषेधात्मक वचन द्वारा प्रकट किया गया है"। यदि इसे स्पष्ट शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि जिसे हिन्दू लोग धर्म कहते हैं वह वस्तुतः नियम या आदेश या, अधिक से अधिक, कानून का रूप धारण किया हुआ श्रेणी का आचार शास्त्र है। मैं इस संस्कार-संहिता को धर्म कहने से स्पष्ट शब्दों में इनकार करता हूँ

ऐसी संस्कार-संहिता की, जिसे जनता के सामने गलत तौर पर धर्म के रूप में पेश किया जाता है पहली बुराई यह है कि इस का झुकाव नैतिक जीवन को स्वतंत्रता एवं स्वतः प्रवृति से वंचित करने और बाहर से लादे हुए नियमों के न्यूनाधिक उत्सुक और दासोचित (कम से कम एक विवेकी मनुष्य के लिये) सादृश्य में बदल देने की ओर है। यह धर्म आदर्शों के प्रति भक्ति नहीं, वरन् केवल आज्ञाओंकी अनुकूलता चाहता है। परन्तु इस अवस्थाओं की संहिता की सब से बड़ी बुराई यह है कि इस में जो व्यवस्थाएं हैं वे आज, कल और सदा के लिए एक ही होनी चाहिएं। वे अन्यायपूर्ण इस लिए हैं क्योंकि वे एक श्रेणी के लिए वही नहीं जो दूसरी श्रेणी के लिए हैं। इनको ाने वाली सब पीढ़ियों के लिए निर्धारित करके, इस अन्याय

ही शाश्वत बना दिया गया है। ऐसी योजना का आपत्तिजनक अंश यह नहीं कि इनको दैवज्ञ या स्मृतिकार कहलाने वाले विशेष लोगों ने बनाया है। आपत्तिजनक अंश यह है कि इस संहिता को अन्तिम एवं स्थिर बना दिया गया है।

यह बात सब कोई जानता है कि व्यक्ति की दशा एवं परिस्थिति के अनुसार और साथ ही विभिन्न लोगों एव युगों की दशाओं के अनुसार सुख विभिन्न होता है। जब यह बात है तब यह कैसे हो सकता है कि मनुष्य समाज इन सनातन व्यवस्थाओं को सहन करता हुआ लूला न बन जाय और जकड़ा न जाय ? अतः मुझे यह कहनेमें तनिक भी संकोच नहीं कि ऐसे धर्म को अवश्य नष्ट कर डालना चाहिए। मैं कहता हूँ, ऐसे धर्म के विनाश के लिए काम करने में कुछ भी पाप नहीं। वास्तवमें, मेरी सम्मति है कि इस कपट भेष को फाड़ डालना, इस कानून को भूल से धर्म का नाम देकर जो मिथ्योपचार किया गया है उसे दूर करना आपका परम कर्त्तव्य है यह आप के लिए एक आवश्यक काम है। ज्यों ही आपने लोगों के मन से इस भ्रान्ति को दूर कर दिया और उनको अनुभव करा दिया कि जिस चीज को उन्हें धर्म बताया जाता है वह धर्म नहीं वरन् वह वास्तव में कानून है, आप इस स्थिति में हो जायंगे कि उसके संशोधन या उच्छेद के लिए उन्हें उत्तेजित कर सकें। जब तक लोग उसे धर्म समझते हैं वे परिवर्तन के लिए तैयार नहीं होंगे, क्योंकि साधारण रूप से कहें तो कह सकते हैं कि धर्म की कल्पना

परिवर्तन की कल्पना से कोई संपर्क नहीं रखती। परन्तु
की कल्पना का परिवर्तन की कल्पना के साथ संपर्क है। इ
जब लोगों को ज्ञान हो जायगा कि जिसे धर्म कहा जाता
वास्तव में कानून है, जो पुराना और जीर्ण हो चुका है,
परिवर्तन के लिए तैयार हो जायंगे, क्योंकि लोग जानते
मानते हैं कि कानून बदला जा सकता है।

[२४]

एक धर्म-ग्रन्थ की आवश्यकता

मैं व्यवस्थाओं और नियमों के धर्म की निन्दा कर
परन्तु इसका अर्थ यह न समझिए कि मैं धर्म की कोई अ
कता नहीं समझता। इसके विपरीत, मैं बर्क की इस ब
सहमत हूं कि "सच्चा धर्म समाजका आधार होता है, य
भित्ति है जिस पर सारी सच्ची असैनिक गवर्नमेण्ट अ
रहती है।" फलतः जहां मैं कहता हूँ कि जीवनके इन
नियमों का लोप कर दिया जाय, वहां मैं इस बात के लि
उत्सुक हूं कि उनके स्थान में किसी सिद्धान्तों के धर्म को
दिया जाय। केवल वही सच्चा धर्म कहलाने का अधिकार
वास्तव में, मुझे धर्म की आवश्यकता का इतना अधिक वि
है कि मैं अनुभव करता हूं कि मुझे आप के सम्मुख उस च
रूप-रेखा रख देनी चाहिए जिसे मैं धर्म-सुधार में आ
बातें समझता हूँ :—(१) हिन्दू धर्म की एक और केवल

प्रामाणिक पुस्तक होनी चाहिए, जो सब हिन्दुओं के स्वीकार करने योग्य हो और जिसे सब हिन्दू मानें। निस्सन्देह इसका अर्थ यह है कि वेद, शास्त्र और पुराण आदि हिन्दू धर्म की सब दूसरी पुस्तकों को, जिन्हें पवित्र एवं प्रामाणिक समझा जाता है, धर्म ग्रन्थ समझा जाना कानून से रोक दिया जाय, और उन ग्रन्थों में वर्णित किसी मत का प्रचार, वह मत चाहे धार्मिक हो या सामाजिक, दण्डनीय ठहराया जाय। (२) यह अच्छा हो यदि हिन्दुओं में से पुरोहित वर्ग को दूर कर दिया जाय। पर यह बात असंभव प्रतीत होती है इस लिए कम से कम इसे वंश परम्परागत न रहने दिया जाय। अपने को हिन्दू मानने वाले प्रत्येक व्यक्ति को पुरोहित बनने का अधिकार हो। यह कानून होना चाहिए कि कोई हिन्दू तब तक पुरोहित नहीं बन सकेगा जब तक वह राज्य द्वारा निर्धारित परीक्षा नहीं पास कर लेगा, और जब तक उसके पास पुरोहिताई करने के लिए राज्य से मिली हुई सनद नहीं होगी। (३,जिस पुरोहित के पास सनद अर्थात् प्रमाण-पत्र न हो उसका कराया हुआ कोई संस्कार कानून में समर्थनीय न समझा जाय और जिस व्यक्ति के पास सनद न हो उस के लिए पुरोहित का काम करना दण्डनीय ठहराया जाय।

पुरोहित भी दूसरे लोक-सेवकों की तरह राज्य का नौकर हो उसे राज्य से वेतन मिले, और दूसरे नागरिकों के सदृश देशके साधारण राजनियमके अधीन होनेके अतिरिक्त वह अपने

परिवर्तन की कल्पना से कोई संपर्क नहीं रखती। परन्तु कानून की कल्पना का परिवर्तन की कल्पना के साथ संपर्क है। इसलिए जब लोगों को ज्ञान हो जायगा कि जिसे धर्म कहा जाता है वह वास्तव में कानून है, जो पुराना और जीर्ण हो चुका है, तो वे परिवर्तन के लिए तैयार हो जायंगे, क्योंकि लोग जानते और मानते हैं कि कानून बदला जा सकता है।

[२४]

एक धर्म-ग्रन्थ की आवश्यकता

मैं व्यवस्थाओं और नियमों के धर्म की निन्दा करता हूँ। परन्तु इसका अर्थ यह न समझिए कि मैं धर्म की कोई आवश्यकता नहीं समझता। इसके विपरीत, मैं बर्क की इस बात से सहमत हूँ कि "सच्चा धर्म समाजका आधार होता है, वह वह आधार है जिस पर सारी सच्ची सामाजिक गवर्नमेण्ट आश्रित रहती है।" फलतः जहां मैं कहता हूँ कि जीवनके इन प्राचीन नियमों का अन्त कर दिया जाय, वहां मैं इस बात के लिए भी उत्सुक हूँ कि इनके स्थान में किसी सिद्धान्तों के धर्म की स्थापना किया जाय। केवल यही सच्चा धर्म कहलाने का अधिकारी है। वास्तव में, मुझे धर्म की आवश्यकता का इतना अधिक विश्वास है कि मैं अनुभव करता हूँ कि मुझे आप के सम्मुख [illegible] [illegible] बता देनी चाहिए जिन्हें मैं धर्म-सुधार में आवश्यक समझता हूँ :—(१) हिन्दू धर्म की एक और केवल एक

और इसका कारण यह है कि हिन्दुओं में पुरोहित वर्ग न तो राजनियम के अधीन है और न सदाचार के। यह अपना कोई कर्तव्य नहीं समझता। यह तो केवल अपने अधिकार और प्रभुता ही जानता है। यह एक ऐसा अनिष्टकारी जन्तु है जो जगदीश्वर ने जनता की मानसिक और नैतिक अधोगति के लिए खुला छोड़ दिया है। पुरोहित श्रेणी को जरूर ही किसी कानून द्वारा नियन्त्रणमें लाना चाहिए। जिसकी रूप रेखा मैंने ऊपर दी है। इससे उसका उपद्रव रुक जाएगा और वह जनता को पथ-भ्रष्ट न कर सकेगा। इसका मार्ग सबके लिए खुल जाने से यह व्यवसाय प्रजातन्त्री हो जाएगा। इससे ब्राह्मणी धर्म (Brahmanism) को मारने और जाति-भेद का नाश करने में सहायता मिलेगी, क्योंकि जाति-भेद मूर्तिमान ब्राह्मणी धर्म के सिवा और कुछ नहीं। ब्राह्मणी-धर्म वह विष है जिसने हिन्दू-धर्म को नष्ट कर डाला है। ब्राह्मणी धर्म का नाश करके ही आप हिन्दू धर्म को बचा सकते हैं। इस सुधार का किसी को भी विरोध नहीं करना चाहिए। आर्य समाजियों को भी इसका स्वागत करना चाहिए। क्योंकि यह उन के अपने गुण-कर्म के सिद्धान्त का ही प्रयोग है।

यह बात आप करें या न करें, परन्तु एक बात तो आपको अवश्य करनी चाहिए। आपको अपने धर्म का नवीन सैद्धांतिक आधार बनाना चाहिए। वह आधार ऐसा हो जो स्वाधीनता, समता और बन्धुता, सारांश यह कि प्रजातन्त्र के अनुरूप हो।

मैं इस विषय पर अधिकार-पूर्वक कुछ नहीं कह सकता। मैंने सुना है कि ऐसे सिद्धान्तों के लिए, जो स्वतंत्रता, समता और बंधुता के अनुरूप हों, आपको विदेश से कोई वस्तु मांग कर लेने की आवश्यकता नहीं, आपको ऐसे सिद्धान्त अपनी उपनिषदों में मिल सकते हैं। उन सिद्धान्तों को पूरी तरह से नया रूप दिए, काफी तौर पर छीले और उनमें लगे हुए मैल को तोड़ कर अलग किए बिना आप यह काम कर सकेंगे, यह मैं नहीं कह सकता इसका अर्थ जीवन की मौलिक भावनाओं में पूर्ण परिवर्तन होगा व इसका अर्थ जीवन का मूल्य आँकने में पूर्ण परिवर्तन होगा। इसका अर्थ है मनुष्य और पदार्थोंके प्रति दृष्टि-कोण और भाव में पूर्ण परिवर्तन। इसका अर्थ है मतान्तर। परन्तु यदि आप यह शब्द पसन्द नहीं करते, तो मैं कहूंगा कि इसका अर्थ है नया जीवन। परन्तु जो देह निर्जीव है उसमें नव-जीवन प्रवेश नहीं कर सकता। नव जीवन केवल नव शरीर में ही प्रवेश कर सकता है। नया शरीर तभी अस्तित्व में आ सकता और नया जीवन तभी उसमें प्रवेश कर सकता है जब पहले पुराना शरीर मर जाय। सरल भाषा में कहें तो, यह आव-श्यक है कि पहले पुराना काम करना बंद करदे, उसके पीछे ही नया जीना और धड़कना आरम्भ करेगा। मेरा यही अभि-

जब मैंने कहा था कि आपको वेदों और शास्त्रों की

। को छोड़ देना और शास्त्रों के धर्म को नष्ट कर देना

(२५)

हिन्दुओं के विचारार्थ कुछ प्रश्न

मैंने आपको बहुत देर तक रोके रक्खा है, यह समय है जब मुझे अपना अभिभाषण समाप्त कर देना चाहिए। बंद कर देने के लिए मेरे लिए यह ठीक स्थान था। परन्तु हिन्दुओं के जीवन और मृत्यु से संबंध रखने वाले इस विषय पर हिन्दुओं की सभा में संभवतः यह मेरा अन्तिम भाषण होगा। इसलिए, अपना भाषण समाप्त करने के पूर्व, यदि हिन्दू अनुमति दें, मैं पसंद करूंगा कि उनके सामने कुछ ऐसे प्रश्न रक्खूं जिनको मैं जीवन और मृत्यु के प्रश्न समझता हूँ और उन पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने के लिए उन से कहूं।

पहली बात यह कि हिन्दुओं को सोचना चाहिए कि क्या मनुष्य-विज्ञान के इस नग्न सिद्धांत को ही ग्रहण कर लेना पर्याप्त है कि संसार के विभिन्न लोगों में पाये जाने वाले विश्वासों, स्वभावों सदाचारों और जीवन के दृष्टि-कोणों के विषय में सिवा इसके कि वे बहुधा एक दूसरे से भिन्न होते हैं और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं; या क्या इस बात को मालूम करने का यत्न करने की आवश्यकता नहीं किस प्रकार के नैतिक चरित्र, विश्वास, स्वभाव और दृष्टि-कोण ने सब से उत्तम काम दिया है और जिनमें यह मौजूद थे उन्हें बढ़ने-फूलने, मजबूत बनने, पृथ्वी को बसाने और उस पर राज्य करने में समर्थ बनाया है।

मैं इस विषय पर अधिकार-पूर्वक कुछ नहीं कह सकता। मैंने सुना है कि ऐसे सिद्धान्तों के लिए, जो स्वतंत्रता, समता और बंधुता के अनुरूप हों, आपको विदेश से कोई वस्तु मांग कर लेने की आवश्यकता नहीं, आपको ऐसे सिद्धान्त अपने उपनिषदों में मिल सकते हैं। उन सिद्धान्तों को पूरी तरह से नया रूप दिए, काफी तौर पर छीले और उनमें लगे हुए मैल को तोड़ कर अलग किए बिना आप यह काम कर सकेंगे, यह मैं नहीं कह सकता, इसका अर्थ जीवन की मौलिक भावनाओं में पूर्ण परिवर्तन होगा व इसका अर्थ जीवन का मूल्य आँकने में पूर्ण परिवर्तन होगा। इसका अर्थ है मनुष्य और पदार्थोंके प्रति दृष्टि-कोण और भाव में पूर्ण परिवर्तन। इसका अर्थ है मतान्तर परन्तु यदि आप यह शब्द पसन्द नहीं करते, तो मैं कहूंगा कि इसका अर्थ है नया जीवन। परन्तु जो देह निर्जीव है उसमें नव जीवन प्रवेश नहीं कर सकता। नव जीवन केवल नव शरीर में ही प्रवेश कर सकता है। नया शरीर तभी अस्तित्व में आ सकता और नया जीवन तभी उसमें प्रवेश कर सकता है जब पहले पुराना शरीर मर जाय। सरल भाषा में कहें तो, यह आवश्यक है कि पहले पुराना काम करना बंद करदे, उसके पीछे ही नया जीना और धड़कना आरम्भ करेगा। मेरा यही अभिप्राय था जब मैंने कहा था कि आपको वेदों और शास्त्रों की प्रामाणिकता को छोड़ देना और शास्त्रों के धर्म को नष्ट कर देना चाहिए।

(२५)

हिन्दुओं के विचारार्थ कुछ प्रश्न

मैंने आपको बहुत देर तक रोके रक्खा है, यह समय है जब मुझे अपना अभिभाषण समाप्त कर देना चाहिए। बंद कर देने के लिए मेरे लिए यह ठीक स्थान था। परन्तु हिन्दुओं के जीवन और मृत्यु से संबंध रखने वाले इस विषय पर हिन्दुओं की सभा में संभवतः यह मेरा अन्तिम भाषण होगा। इसलिए, अपना भाषण समाप्त करने के पूर्व, यदि हिन्दू अनुमति दें, मैं पसंद करूंगा कि उनके सामने कुछ ऐसे प्रश्न रक्खूं जिनको मैं जीवन और मृत्यु के प्रश्न समझता हूँ और उन पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने के लिए उन से कहूं।

पहली बात यह कि हिन्दुओं को सोचना चाहिए कि क्या नुष्य-विज्ञान के इस नम्र सिद्धांत को ही ग्रहण कर लेना र्याप्त है कि संसार के विभिन्न लोगों में पाये जाने वाले श्वासों, स्वभावों सदाचारों और जीवन के दृष्टि-कोणों के षय में सिवा इसके कि वे बहुधा एक दूसरे से भिन्न होते हैं गैर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं; या क्या इस बात को लूम करने का यत्न करने की आवश्यकता नहीं किस प्रकार के तिक चरित्र, विश्वास, स्वभाव और दृष्टि-कोण ने सब से त्तम काम दिया है और जिनमें यह मौजूद थे उन्हें बढ़ने-लने, मजबूत बनने, पृथ्वी को बसाने और उस पर राज्य करने समर्थ बनाया है।

प्रोफेसर कार्वर कहते हैं–"नैतिक पसन्दगी और नापसन्द-
ी की सङ्गठित व्यञ्जना के रूपमें नैतिक चरित्र और धर्म जीवन
ंग्राम में रक्षा और आक्रमणके वैसे ही सच्चे शस्त्र समझे जाने
ाहिए जैसे कि दाँत और पञ्जे, सींग और छल्ले, पोस्तीन
ौर रोए हैं। जो सामाजिक समूह, मण्डली, जाति या राष्ट्र
ीति-शास्त्र की अव्यवहार्य योजना बना लेता है, या जिसके
ीतर वे सामाजिक काम, जो इसे निर्बल और बच कर जीते
हने के अयोग्य बनाते हैं, नित्य पसन्द किए जाते हैं, और इस
 विपरीत, जो उसे सबल और विस्तार के योग्य बना सकते हैं
नित्य नापसन्द किए जाते हैं, वह अन्ततः मिट जाता है। यह
सन्दगी और नापसन्दगी के स्वभाव ही हैं (यह धर्म और
ैतिक चरित्र के परिणाम हैं) जो उसे वैसी ही वास्तविक रीति
 बाधा देते हैं जैसे एक ओर दो पंख होना और दूसरी ओर
ोई भी न होना मक्खियों के समूह के लिए असुविधा उत्पन्न
रेगा। एक पद्धति भी वैसी ही अच्छी है जैसी दूसरी, ऐसा
र्क करना एक की अवस्था में वैसा ही व्यर्थ होगा जैसा दूसरे
ी अवस्था में।

इसलिये नैतिक और चरित्र और धर्म केवल पसन्द और
ापसन्द की ही बातें नहीं। हो सकता है कि आप नैतिक चरित्र
ी किसी ऐसी योजना को बहुत अधिक नापसन्द करें, जिस
र यदि सारे का सारा राष्ट्र आचरण करे तो वह पृथ्वी-तल
र सब से बलवान राष्ट्र बन सकता है। तो आपके नापसन्द

करते हुए भी ऐसा राष्ट्र बलवान हो जाएगा। हो सकता है आप नैतिक चरित्र की एक ऐसी योजना और न्याय के एक ऐसे आदर्श को बहुत ही पसन्द करें जिस पर यदि सारे का सारा राष्ट्र आचरण करने लगे तो वह दूसरे राष्ट्रों के साथ संग्राम में ठहरने के अयोग्य हो जायगा। तो आप की प्रशंसा के रहते हुए भी वह राष्ट्र अन्त को नष्ट हो जायगा। इसलिये हिन्दुओं को अपने नीति-शास्त्र और धर्म की परीक्षा अपने बच कर जीते रहने की दृष्टि से करनी चाहिए।

दूसरे हिन्दुओं को सोचना चाहिए कि क्या उन्हें अपने सारे के सारे सामाजिक पैतृक धन को रक्षित रखना ठीक है, या जो कुछ उपयोगी है उसे छाँट कर आने वाली पीढ़ियों को केवल उतना ही देना उचित है।

प्रोफेसर(John Dewy)जो मेरे अध्यापक थे और जिन का मुझ पर बड़ा उपकार है, कहते हैं –

"Every society gets encumbered with what is trivial, with dead wood from the past and with what is positively perverse......As a society becomes more enlightened, it realizes that it is responsible not to conserve and transmit the whole of its existing achievements, but only such as make for a better future society."

अर्थात्--"प्रत्येक समाज तुच्छ बातों से, अतीत के मृत काष्ठ से और उस चीज़ से जो निश्चित रूप से विरचिरी है

भारग्रस्त हो जाता है। जब समाज अधिक प्रवुद्ध हो जाता है, तो वह अनुभव करता है कि वह अपने सम्पूर्ण वर्तमान सिद्धियों की नहीं वरन् केवल उन्हीं उत्तम कार्यों की रक्षा करने और अगली पीढ़ी को देने के लिए उत्तरदायी है जो भावी समाज को अच्छा बनाएगी"।

बर्क (Burke) जैसा मनुष्य भी यद्यपि उसने फ्रेंच-राज्यक्रान्ति को अङ्गीभूत परिवर्तन के सिद्धान्त का प्रबल विरोध किया था, यह स्वीकार करने पर बाध्य है कि —

"A state without the means of some change is without the means of its conservation. Without such means it might even risk the loss of that part of the constitution which it wished the most religiously to preserve."

अर्थात् —"जिस राज्य में परिवर्तन का कोई साधन नहीं वह अपने रक्षण के साधन से रहित है। ऐसे साधन के बिना शासन-विधान के उस भाग से भी उसके हाथ धो बैठने का भय है जिसको वह बड़ी चिन्ता के साथ बचाना चाहता था।"

बर्क ने जो कुछ राज्य के सम्बन्ध में कहा है वह समाज पर भी समान रूप से लागू होता है।

तीसरे — हिन्दुओं को सोचना चाहिए कि क्या उन्हें अतीत के आदर्शों की पूजा करना बन्द नहीं कर देना चाहिए।

अतीतकी पूंजाका अनिष्टकर प्रभाव क्या होता है, इसका वर्णन करते हुए प्रोफेसर डीवे कहते हैं :—

"An individual can live only in the *Present. The Present is not just something* that comes after the past; much less something produced by it. It is what life is in leaving the past behind it. The study of past products will not help us to understand the present. A knowledge of the past and its heritage is of great singnificance when it enters into the present, but not otherwise- And the mistake of making the records and remains of the past the main material of education is that it tends to make the past a rival of the present and the present a more or less futile imitation of the past."

अर्थात्— कोई व्यक्ति केवल वर्तमान में ही जी सकता है। वर्तमान ठीक वही नहीं जो अतीत के पीछे आता है, और न वही जिसे अतीत उत्पन्न करता है। अतीत को पीछे छोड़ देने के बाद जो कुछ जीवन होता है वही वर्तमान है। अतीत काल वर्तमान को समझने में हमें सहायता न देगा। अतीत उसके दायका ज्ञान केवल तभी बहुत महत्त्व रखता है जब वह वर्तमान में प्रवेश करता है, अन्यथा नहीं। और अतीत की बची खुची चीजों और मिसलों को शिक्षा की प्रधान सामग्री

बनाने में भूल यह है कि इस से अतीत के वर्तमान का प्रतिद्वन्द्वी और वर्तमान के अतीत का न्यूनाधिक व्यर्थ प्रतिरूप बन जाने का भय रहता है।"

जो सिद्धान्त जीने और बढ़ने की वर्तमान क्रिया को तुच्छ बताता है, वह स्वभावतः वर्तमान को शून्य और भविष्य को दूर की वस्तु समझता है। ऐसा सिद्धान्त प्रगति के लिये अपकारी और जीवन के प्रबल और अटल प्रवाह के लिए बाधक है।

चौथे—हिन्दुओं को इस बात पर विचार करना चाहिए कि क्या अभी तक उनके लिए इस बात को स्वीकार करने का समय नहीं आया कि कोई भी वस्तु स्थिर नहीं, कोई भी वस्तु अपरिवर्तनीय नहीं, कोई भी सनातन नहीं; प्रत्येक वस्तु बदल रही है, व्यक्तियों और समाज के लिए परिवर्तन ही जीवन का नियम है। एक बदलते हुए समाज में पुरानी कीमतों का अविरल रूप से बढ़ते-घटते रहना आवश्यक है। हिन्दुओं को इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि यदि मनुष्यों के कर्मों की जाँच के लिए किसी कसौटी का होना जरूरी है तो उस कसौटी का संशोधन करने के लिए भी उनका सदा तैयार रहना आवश्यक है।

(२६)

उपसंहार

मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि यह अभिभाषण बहुत लंबा हो गया है। यह निर्णय करना आपका काम है कि विस्तार या गम्भीरता ने इस दोष को कहांतक बराबर कर दिया है। मैं तो केवल इतनी ही प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैंने अपने विचार अकपट भाव से आपके सामने रख दिये हैं। आपसे अपील करने के लिए मेरे पास कुछ अध्ययन और आपके भाग्य की गहरी चिन्ता के सिवा और कुछ नहीं। मुझे कहने की अनुमति दीजिए कि यह विचार एक ऐसे मनुष्य के विचार हैं जो किसी शक्ति के हाथ की कठपुतली नहीं, जो बड़ों का चापलूस नहीं। ये एक ऐसे व्यक्ति के मुंह से निकल रहे हैं जिसका प्रायः समग्र सार्वजनिक प्रयास दरिद्रों एवं दलितों की स्वाधीनता के लिए एक निरन्तर संग्राम रहा है और जिसको उसके बदले में राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं और राष्ट्रीय नेताओं की ओर से बदनामी और गालियों की बौछार के सिवा और कुछ नहीं मिला। इसका कारण इसके सिवा और कुछ नहीं कि मैं पीड़कोंके स्वर्णकी सहायतासे पीड़ितों के उद्धार और धनवानों के धन से निर्धनों के उत्थान का चमत्कार—मैं धोखे को चाल नहीं कहूँगा—करने में उनके साथ मिलने से इनकार करता हूँ। हो सकता है कि यह सब मेरे विचारोंकी प्रशंसा के लिये पर्याप्त न हो। मैं समझता

हूं कि मेरे विचारोंके आपके विचारों को बदल सकनेकी संभावना नहीं। परन्तु वे बदलते हैं या नहीं बदलते, इसका सारा दायित्व आप पर है। आपको जातिभेद को जड़ से उखाड़डालने का अवश्य यत्न करना चाहिए यदि मेरी रीति से नहीं तो अपनी ही रीति से सही।

नोट—खेद है कि मैं आपके साथ नहीं हूंगा। मैंने बदलने का निश्चय कर लिया है। कारण बतानेका यह स्थान नहीं परन्तु आपके समाज में से निकल जानेके उपरान्त भी मैं सक्रिय सहानुभूति के साथ आपके आन्दोलन को देखता रहूंगा और जहां तक हो सकेगा आपकी सहायता भी किया करूंगा आपका उद्देश्य राष्ट्रीय है।

जाति-भेद, निस्सन्देह मूलतः हिन्दुओं के ही भीतर से निकली हुइ गन्दी भड़ास है। परन्तु हिन्दुओं ने सब कहीं वायुमण्डल को दूषित कर दिया है और सिक्ख, मुसलमान, ईसाई सब में इस का विष फैल गया है। इसलिए आप मुसलमान, और ईसाई आदि उन सब लोगों की भी सहायता के पात्र हैं जिनमें संसर्ग-दोष से यह जात-पाँत का रोग फैल गया है। आपका उद्देश्य एक राष्ट्रीय उद्देश्य है, परन्तु यह दूसरे राष्ट्रीय उद्देश्य अर्थात स्वराज्य से कहीं अधिक कठिन है। स्वराज्य के संग्राम में जब आप लड़ते हैं तो सारा राष्ट्र आप के पक्ष में होता है। परन्तु इस काम में, आप को सारे राष्ट्र के विरुद्ध लड़ना पड़ता है और वह राष्ट्र भी कोई दूसरा नहीं, अपना ही है। परन्तु यह काम

स्वराज्य से भी अधिक महत्वपूर्ण है। स्वराज्य लेने से कुछ लाभ नहीं, यदि हम उस की रक्षा नहीं कर सकते। स्वराज्य की रक्षा करने के प्रश्न से भी अधिक महत्वपूर्ण बात स्वराज्य में हिन्दुओं की रक्षा करने का प्रश्न है। मेरी सम्मति में हिन्दूसमाज के जाति-भेद के महारोग से छुटकारा पाने के बाद ही उसमें अपनी रक्षा के लिए पर्याप्त शक्ति आने की आशा की जा सकती है। इस भीतरी शक्ति के बिना, डर है कि स्वराज्य हिन्दुओं के लिए दासता की ओर एक पग मात्र ही सिद्ध न हो। आपकी सफलता के लिए शुभ कामना करता हुआ मैं आप से विदा होता हूँ।

इति

'राजगृह,'

दादर बंबई-१४

परिशिष्ट १

महात्मा गांधी द्वारा

जाति-भेदका समर्थन

("हरिजन" में प्रकाशित उनके लेख की प्रतिलिपि)

डा० अम्बेडकर का अभियोग

पाठकों को याद होगा कि गत मई मासमें डा०अम्बेडकर
हौर के जात पांत तोड़क मण्डल के सम्मेलन के प्रधान बनने
थे। परन्तु सम्मेलनको ही बंद कर दिया गया क्योंकि स्वागत
मिति ने डाक्टर अम्बेडकर के अभिभाषण को स्वीकार करने
ग्य न पाया। जिस प्रधान को समितिने आप चुना है उसका
भिभाषण उसे आपत्तिजनक प्रतीत होने के कारण उसे अस्वी-
र कर देना समिति के लिए कहां तक न्यायसंगत है, इस पर
पत्ति हो सकती है। जातिभेद और हिन्दू धर्म ग्रन्थोंके संबंध
डा० अम्बेडकर के विचारों का समिति को ज्ञान था। उसे यह
पता था कि डाक्टर महाशय ने हिन्दू धर्म को छोड़देने का
श्चय स्पष्ट रूपसे कर रक्खा है। डा०अम्बेडकर ने जो अभि-
षण तैयार किया उससे कम किसी वस्तु की उन से आशा
थी। ऐसा लगता है कि समिति ने जनता को एक ऐसे मनुष्य

के मौलिक विचारों को सुनने के अवसर से वंचित कर दिया, जिसने समाज में अपने लिए एक अद्वितीय स्थान बना लिया है भविष्य में डाक्टर अम्बेडकर चाहे जो भी लेबिल अपने पर लगायें वे ऐसे मनुष्य नहीं जिन को भुलाया जा सकता है।

डा० अम्बेडकर स्वागत समिति से हार खाने वाले नहीं थे। उन्होंने अपने व्यय से अपना अभिभाषण छापकर समिति द्वारा अपने अस्वीकार किए जानेका उत्तर दिया है। उन्हों ने इस का मूल्य आठ आने रक्खा है। मेरा सुझाव है कि यह मूल्य घटा कर २ आने या अधिक से अधिक ४ आने कर दिया जाय।

कोई भी सुधारक इस अभिभाषण की उपेक्षा नहीं कर सकता। शास्त्र-विश्वासी को इसके पाठसे लाभ होगा मेरा कहने का अभिप्राय यह नहीं कि अभिभाषण पर कोई आपत्ति नहीं होसकती। इसे इसलिए ही पढ़ना चाहिए क्योंकि इसपर गम्भीर आपत्ति हो सकती है। डा० अम्बेडकर हिन्दू धर्म के लिए एक ललकार है। यद्यपि इनका पालन पोषण एक हिंदूके रूपमें हुआ है। यद्यपि एक हिन्दू राजा ने उन्हें शिक्षा दिलाई है, तो भी वे तथाकथित सवर्ण हिन्दुओंके द्वारा उनके प्रति और उनके जाति-यों के प्रति होने वाले दुर्व्यवहार के कारण सवर्ण हिन्दुओं से इतना ऊब गये हैं कि उनकी इच्छा न केवल उनको वरन् उस धर्म को भी जो डाक्टर महाशयकी और उनकी सामान्य बपौती है छोड़ देने की इच्छा रखते हैं। उस धर्म को मानने वाले लोगों

में से कुछ के विरुद्ध होने से डाक्टर महाशय उस धर्म से घृणा करने लगे हैं।

पर यह कोई आश्चर्य करने की बात नहीं। कुछ भी मनुष्य किसी पद्धति या संस्था का निर्णय उसके प्रतिनिधियों आचरणसे ही कर सकता है। इससे अधिक और क्या है। ड अम्बेडकर ने देखा कि अधिकांश सवर्ण हिन्दू अपने ही ध वंधुओं के प्रति जिनको उन्होंने अस्पृश्य बना रक्खा है न केव अमानुषिक आचरण करते हैं वरन् वे अपने इस आचरण आधार अपने धर्म-ग्रन्थों को मानते हैं, और जब डाक्टर महोद उन की खोज करने लगे तो उन्हें सवर्णों के अस्पृश्यता और उ के तात्पर्य में विश्वास के लिए धर्म-ग्रन्थों में प्रचुर प्रमाण मिले अभिभाषण के कर्ता ने अपने तिहरे अभियोग के प्रमाण अध्याय और श्लोक तक उद्धृत किए हैं। वे तीन अभियोग हैं —स्वयं नृशंस आचरण, इस अपराध के करने वालों के द्वा इसका निर्लज्ज समर्थन, और बाद को इस बात का पता लगन कि यह समर्थन उनके धर्म-ग्रन्थों के अनुसार है।

धर्म को जो हिन्दू अपने प्राणों से भी प्यारा समझता है वह उस अभियोग के महत्व को तुच्छ नहीं समझ सकता। ऐसी घृणा करने वाले अकेले डा० अम्बेडकर ही नहीं। वे तो हिन्दू धर्म से घृणा करने वालों में योग्यतम और सब से अधिक हठी आवेदक हैं। निश्चय ही वे उनमें सब से अधिक असंयत हैं। ... का धन्यवाद है, नेताओं की अगली पंक्ति में वे आगु

रूप से अकेले हैं और अब तक एक बहुत ही छोटी अल्पसंख्या के एक मात्र प्रतिनिधि हैं। परन्तु जो कुछ उन्होंने कहा है वही बात दलित जातियों के कई दूसरे नेता न्यूनाधिक तीव्रता के साथ कहते हैं। दलित जातियों के दूसरे नेता, जैसे कि रावबहादुर एम० सी० राजा और दीवान बहादुर श्रीनिवास न केवल हिन्दू धर्म का परित्याग कर देने की धमकी देते हैं परन्तु उस लज्जाजनक उत्पीड़न का बदला लेने के लिये जो बहुसंख्यक हरिजनों पर किया जाता है, पर्याप्त उष्णता देखते हैं।

परन्तु अनेक नेताओं का हिन्दू धर्म में बना रहना, इस बात का कोई अधिकारपत्र नहीं कि डा० अम्बेडकर को जो कुछ कहना है उसकी उपेक्षा की जाय। सवर्णों को अपना विश्वास और अपना आचरण ठीक करना होगा। जो लोग अपनी विद्वत्ता एवं प्रभाव से सवर्णों में सब से ऊपर हैं, उन्हें धर्मशास्त्रों की प्रामाणिक व्याख्या करनी होगी। डा० अम्बेडकर का अभियोग जो प्रश्न सुझाता है वे ये हैं—

१. धर्मग्रन्थ क्या हैं!

२. क्या सभी मुद्रित पाठों को उनका अखण्डांश समझा जाय या क्या उनके किसी अंश को अप्रामाणिक प्रक्षेप समझ कर मानने से इन्कार कर दिया जाय?

३. ऐसे स्वीकृत एवं संशोधित धर्म-ग्रन्थों का अस्पृश्यता,

ातिभेद सामाजिक स्थिति की समता सहभोज और अन्तर्वर्णीय
वाह के प्रश्न का क्या उत्तर है ?

(डा० अम्बेडकर ने अपने अभिभाषण में इन सबकी जाँच
ी है।)

इन प्रश्नों का मेरा अपना उत्तर और डाक्टर अम्बेडकर के
वन्ध में (कम से कम कुछ) सुस्पष्ट दोष मैं अगले अंक में
लिखूँगा।

["हरिजन", जुलाई ११ सन् १९३६]

वेद, उपनिषद्, स्मृतियाँ और पुराण और साथ ही रामायण
और महाभारत भी, हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थ हैं। न ही यह सूची
सीमित है प्रत्येक युग वरन् प्रत्येक पीढ़ी ने इसमें वृद्धि की है।
इसलिए इससे यह परिणाम निकलता है कि प्रत्येक मुद्रित या
हस्तलिखित वस्तु धर्म-ग्रन्थ नहीं। उदाहरणार्थ स्मृति में बहुत
कुछ ऐसा है जिसे भगवद्वाणी कभी स्वीकार नहीं किया जा
सकता। इस प्रकार डा० अम्बेडकर ने जो स्मृतियों के अनेक
श्लोक दिए हैं उनको प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। जिन
पुस्तकों को यथार्थ रूप में धर्म पुस्तकें कहा जा सकता है, उनका
सम्बन्ध केवल सनातन सचाइयों के साथ ही हो सकता है।
उन ग्रन्थों का प्रत्येक के अन्तःकरण को, अर्थात् प्रत्येक ऐसे हृदय
को जिसके ज्ञानचक्षु खुल चुके हैं, अच्छा लगना भी आवश्यक
है। कोई भी ऐसी बात भगवद्वाणी नहीं की जा सकती जिसकी

रीक्षा तर्क से नहीं की जा सकती, आध्यात्मिक रूप से जिसका अनुभव नहीं हो सकता। धर्म-ग्रन्थों के संशोधित संस्करण हो जाने पर भी आपको उनकी व्याख्या का प्रयोजन होगा। सर्वोत्तम टीकाकार कौन है ? निश्चय ही विद्वान् लोग नहीं। विद्वता का होना आवश्यक है। परन्तु धर्म इस पर नहीं जीता। यह अपने साधु-सन्तों के अनुभव में उनके जीवनों और वचनों में जीता है। जब धर्म-ग्रन्थों के विद्वान से विद्वान् सभी टीकाकारों को लोग बिलकुल भूल चुके होंगे, तब भी साधु-सन्तों का संचित अनुभव रहेगा और आने वाले युगों को अनुप्रेरणा का काम देगा।

जातिभेद का धर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। यह एक प्रथा है जिसका मूल मैं नहीं जानता और न ही अपना आध्यात्मिक क्षुधा की शान्ति के लिये मुझे उसे जानने की आवश्यकता है। परन्तु मैं जानता हूँ कि यह आध्यात्मिक और राष्ट्रीय अभ्युदय दोनों के लिए हानिकारक है। वर्ण और आश्रम ऐसी संस्थाएँ हैं जिनका जात-पाँतों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। वर्ण का सिद्धान्त हमें शिक्षा देता है कि हममें से प्रत्येक को अपना परम्परागत व्यवसाय करके अपनी रोटी कमाना है। यह हमें हमारे अधिकार नहीं, वरन् हमारे कर्तव्य बतलाता है। इसका आवश्यक रूप से उन कामों के साथ सम्बन्ध है जो मनुष्य-मात्र का मंगल, और कोई चीज नहीं; करने वाले हैं। इससे यह भी परिणाम निकलता है कि न कोई काम बहुत नीच और न कोई बहुत ऊंच है। सब काम अच्छे, धर्मसंगत, और दर्जे में बिलकुल समान हैं। ब्राह्मण

—आध्यात्मिक गुरु—का काम और एक भङ्गी का काम दोनों बराबर हैं और उनको उचित रूप से करना भगवान की दृष्टि में एक समान पुण्य कर्म है, और ऐसा जान पड़ता है कि एक समय मनुष्य के सामने भी इनका अभिन्न पुरस्कार माना जाता था। दोनों अपनी आजीविका पात्र के अधिकारी थे, उससे अधिक किसी वस्तु के नहीं। वास्तव में अब भी ग्रामों में वर्ण-सिद्धान्त की इस स्वस्थ क्रिया की धुंधली रेखाएँ मिलती हैं। मैं सेगाँव में रहता हूँ जिसकी जन-संख्या ६०० है। वहां मैं, विभिन्न व्यवसायों की कमाई में, जिनके अन्तर्गत ब्राह्मण भी हैं, कोई बड़ी असमता नहीं देखता। मैं देखता हूँ कि इस गिरे हुए युग में भी सच्चे ब्राह्मण मौजूद हैं जो उनको स्वेच्छापूर्वक दी गई भिक्षा पर निर्वाह करके अपनी आध्यात्यिक निधि में से लोगों को मुक्त हस्त से दान करते हैं। वर्ण-सिद्धान्त की जाँच उन लोगों के जीवनों में इसके हासजनक चित्र से करना, जो वे खुल्लमखुल्ला वर्ण के एक मात्र फलप्रद नियम का भङ्ग करते हुए भी अपने को उस वर्ण का कहते हैं, अशुद्ध एवं अनुचित होगा। एक वर्ण का अपने को दूसरे से ऊँचा होने का दावा करना इस सिद्धान्त को न मानना है। वर्ण के सिद्धान्त में कोई भी ऐसी बात नहीं जो अस्पृश्यता में विश्वास रखने की आज्ञा देती हो।

(एक और केवल एक परमेश्वर को सत्य कहना और मानव-परिवार के नियम के रूप में अहिंसा को स्पष्ट स्वीकार करना ही हिन्दू-धर्म का तत्व है।)

मुझे पता है कि डा० अम्बेडकर के अतिरिक्त और भी कई लोग मेरी हिन्दू धर्म की व्याख्या पर आपत्ति करेंगे। उससे मेरी स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह वह व्याख्या है जिसके अनुसार मैंने प्रायः आधी शताब्दी तक जीवन विताया है और जिसके अनुसार जहाँ तक मुझ में योग्यता थी मैंने अपने जीवन को नियमित करने का प्रयत्न किया है।

मेरे मत से डा० अम्बेडकर ने अपने अभिभाषण में भारी भूल यह की है कि उन्होंने ऐसे श्लोक चुने हैं जिनकी प्रामाणिकता और मूल्य सन्दिग्ध है और उन्होंने ऐसे पतित हिन्दुओं की दशा को लिया है जो उस धर्म के योग्य नमूने नहीं जिसे वे इतनी खेदजनक रीति से अशुद्ध रूप में पेश कर रहे हैं। डा० अम्बेडकर ने जिस कसौटी का प्रयोग किया है उस पर परखने से तो प्रत्येक जीवित धर्म जिसका हमें ज्ञान है संभवतः फेल हो जायगा।

अपने योग्यतापूर्ण अभिभाषण में, विद्वान डाक्टर ने अपने अभियोग को अति प्रमाणित किया है। जिस धर्म को चैतन्य, ज्ञानदेव, तुकाराम, तिरुवल्लुवर, रामकृष्ण परमहंस, राम मोहन राय, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, विवेकानन्द और अन्य बहुत से जिनका नाम आसानी से लिया जा सकता है, मानते थे क्या वह सद्गुण से इतना शून्य हो सकता है जितना डा० अम्बेडकर ने उसे अपने अभिभाषण में दिखलाया है। किसी धर्म की परख उसके सब से बुरे नमूनों से नहीं वरन् उन सर्वोत्तम नमूनों से

करनी चाहिए जो यह उत्पन्न कर सकता था। क्योंकि आकांक्षा करने के लिए आदर्श के रूप में केवल उन्हीं का उपयोग किया जा सकता है।

["हरिजन", जुलाई १८, सन् १९३६]

२

वर्ण बनाम जाति-भेद

लाहौर के जात-पाँत तोड़क मण्डल के श्री सन्तरामजी चाहते हैं कि मैं निम्नलिखित छाप दूँ:

"जात-पाँत तोड़क मण्डल, लाहौर और डा० अम्बेडकर के विषय में मैंने आपकी टिप्पणी पढ़ी है। उसी सम्बन्ध में मैं आगे लिखी बातें कहना चाहता हूँ;

"हमने डा० अम्बेडकर को सम्मेलन का प्रधान बनने के लिए उनके अछूत जाति का होने के कारण नहीं बुलाया था, क्योंकि हम स्पृश्य और अस्पृश्य हिन्दू का भेद नहीं मानते। इसके विपरीत, हमने उनको इसलिए चुना था क्योंकि हिन्दू जाति की घातक व्याधि का उनका निदान वही है जो हमारा है, अर्थात् उनका भी यही मत है कि हिन्दुओं की फूट और गिरावट का मूल कारण जातिभेद ही है। डाक्टरेट की डिग्री के लिए डाक्टर साहब के निबन्ध का विषय जातिभेद था, इसलिए उन्होंने इस विषय का अध्ययन बहुत अच्छी तरह किया है। अब हमारे

सम्मेलन का उद्देश्य हिन्दुओं को जातिभेद मिटाने की प्रेरणा करता था, परन्तु सामाजिक और धार्मिक विषयों पर किसी अहिन्दु का उपदेश उन पर कोई प्रभाव नहीं रख सकता। डाक्टर साहब अपने अभिभाषण के पारिशिष्टांश में यह कहने का आग्रह करते थे कि हिन्दू के रूप मे यह उनका अन्तिम भाषण है। यह बात असंगत और सम्मेलन के हित के लिए घातक थी। इसलिए हमने उनसे उस वाक्य को निकाल देने की *प्रार्थना की*, क्योंकि वे यही बात बड़ी आसानी से किसी दूसरे अवसर पर कह सकते थे। परन्तु उन्होंने इन्कार कर दिया और हमने सम्मेलन को केवल एक तमाशा बनाने में कोई लाभ न देखा। इस सब के रहते भी मैं उनके अभिभाषण की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकता, जो, जहाँ तक मेरा ज्ञान है, इस विषय पर अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण प्रबन्ध है और इस योग्य है कि भारत की प्रत्येक भाषा में इसका अनुवाद हो जाय।

इसके अतिरिक्त मैं आपका ध्यान इस बात पर भी दिलाना चाहता हूँ कि आपका जाति और वर्ण के बीच किया हुआ दार्शनिक भेद इतना सूक्ष्म है कि जन-साधारण उसे समझ नहीं सकते, क्योंकि हिन्दू-समाज में सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए जाति और वर्ण दोनों एक ही चीज हैं। कारण यह कि दोनों का काम एक ही है, अर्थात् दोनों सहभोजों और जात-पाँत तोड़क विवाहों पर प्रतिबन्ध लगाते हैं। आपका वर्ण-व्यवस्था का सिद्धान्त इस युग में असाध्य है और निकट भविष्य में उसके

पुनः जी उठने की कोई आशा नहीं। परन्तु हिन्दु जातिभेद
दास हैं। वे उसे नष्ट करना नहीं चाहते। इसलिए जब अ
अपनी आदर्श और काल्पनिक वर्ण-व्यवस्था का प्रचार करते
तब उनको जाति-भेद से चिपटे रहने का बहाना मिल जाता है
इस प्रकार वर्ण-विभाग की काल्पनिक उपयोगिता का समर्थ
कर के आप सामाजिक सुधार की बड़ी हानि कर रहे हैं, क्यों
यह हमारे मार्ग में बाधा उत्पन्न करती है। वर्ण-व्यवस्था की ज
पर कुल्हाड़ा चलाए बिना अस्पृश्यता को दूर करने का यत्न करन
रोग के केवल बाह्य लक्षणों की चिकित्सा करने अथवा पानी प
लकीर खींचने के समान है। क्योंकि द्विज लोग सच्चे हृदय से
तथाकथित अछूत और सछूत शूद्रों को सामाजिक समता देन
नहीं चाहते, इसलिए वे जाति-भेद को तोड़ने से इन्कार करते हैं
वे अस्पृश्यता-निवारण के लिए केवल इसलिए बड़े बड़े दान देते
हैं ताकि यह विषय टला रहे। अस्पृश्यता और जातिभेद को
मिटाने के लिए शास्त्रों की सहायता ढूँढ़ना कीचड़ को कीचड़ से
धोने के सदृश है।"

चिट्ठी का अन्तिम अनुच्छेद निश्चय ही पहले को काट देता है। यदि मंडल शास्त्रों की सहायता लेने से इन्कार करता है, तो वह वही काम करता है जो डा० अम्बेडकर करते हैं, अर्थात् वह हिन्दू नहीं रहता। तब वह डा० अम्बेडकर के अभिभाषण पर केवल इसी कारण कैसे आपत्ति कर सकता है कि वे कहते हैं कि हिन्दू के रूप में यह उनका अन्तिम भाषण है? उसकी स्थिति

नितान्त असमर्थनीय प्रतीत होती है, विशेषत: जब मण्डल, जिसकी ओर से श्री० सन्तराम बोलने का दावा करते हैं, डाक्टर अम्बेडकर के अभिभाषण की सारी युक्ति की प्रशंसा करता है।

परन्तु यह पूछना संगत है कि यदि मण्डल शास्त्रों को नहीं मानता तो किस चीज को मानता है। कुरान को न मान कर कोई मनुष्य मुसलमान और बायबिल को न मान कर कोई मनुष्य ईसाई कैसे रह सकता है? यदि जातिभेद और वर्ण-भेद दोनों एक ही चीज हैं, और यदि वर्ण उन शास्त्रों का ही अखण्ड-अंश हैं जो बताते हैं कि हिन्दू धर्म क्या है, तो मैं नहीं जानता कि जो व्यक्ति जाति-भेद अर्थात् वर्ण को नहीं मानता वह अपने को हिन्दू कैसे कह सकता है?

श्री सन्तराम शास्त्रों की उपमा कीचड़ से देते हैं। जहाँ तक मैं जानता हूँ, डा० अम्बेडकर ने ऐसा कोई सुरम्य नाम शास्त्रों को नहीं दिया। जब मैं कहता हूँ कि यदि शास्त्र वर्तमान अस्पृश्यता का समर्थन करते हैं तो मुझे हिन्दू कहलाना बंद कर देना चाहिए, तो मैं यह बात यों ही नहीं कहता। इसी प्रकार यदि शास्त्र जाति-भेद का इसके वर्तमान घृणाजनक रूप में समर्थन करते हैं, तो मैं अपने को न हिन्दू कहूँगा और न हिन्दू रहूँगा, क्योंकि अन्त-र्जातीय सहभोज और अन्तर्जातीय विवाह में मुझे कोई संकोच नहीं। शास्त्रों और उनकी व्याख्या के सम्बन्ध में अपनी स्थिति को दुबारा बताने की मुझे आवश्यकता नहीं। मैं श्री सन्तराम को सुझाने का साहस करता हूँ कि यही एक मात्र युक्तिसंगत, शुद्ध

और नैतिक रूप से रक्षणीय स्थिति है, और
परम्परा में पर्याप्त प्रमाण है।

परिशिष्ट २

डा० भी० रा० अम्बेडकर
का
महात्माजी को उत्तर

१

जात-पाँत तोड़क मण्डल के लिए मैंने जो
किया था उस पर अपने "हरिजन" में टिप्पणी
ने जो मेरी सम्मानवृद्धि की है उसके लिए मैं
मेरे भाषण की जो आलोचना उन्होंने की है उ
है कि मैंने जातिभेद के सम्बन्ध में जो विचा
महात्माजी का उनसे पूर्ण मतभेद है। मेरा स्वभा
विरोधियों के साथ तब तक वाद-विवाद में नह
ऐसे विशेष हेतु न हों जो मुझे विवाद करने के
यदि मेरा विपक्षी कोई नीच और अविख्यात मनु
उसका पीछा न किया होता। परन्तु मेरा प्रतिपक्ष

है, इसलिए मैं अनुभव करता हूँ कि मुझे उनकी बातों का उत्तर देने का यत्न अवश्य करना चाहिए। उन्होंने मुझे जो सम्मान दिया है उस के लिए मैं कृतज्ञ हूँ, परन्तु मुझे यह स्वीकार करना पड़ता है कि मुझे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि सब मनुष्यों में से महात्माजी मुझ पर प्रसिद्धि का अभिलाषी होने का आरोप करते हैं। यह बात उनके इस कथन से टपकती है कि अपठित अभिभाषण को छपाने में मेरा उद्देश इस बात का प्रबन्ध करना था कि कहीं लोग मुझे "भूल न जायँ।" महात्माजी चाहे जो कहें अभिभाषण को छपाने में मेरा उद्देश्य हिन्दुओं को विचार और अपनी स्थिति की पड़ताल के लिए उत्तेजित करना था। मैं ख्याति के लिए कभी लालायित नहीं रहा, और मैं कहूँ तो कह सकता हूँ कि जितनी ख्याति मैं चाहता हूँ या जितनी की मुझे आवश्यकता है उससे अधिक मुझे प्राप्त है। परन्तु मान लीजिए कि मैंने अपनी प्रसिद्धि के लिए ही भाषण छपाया था तो भी मुझ पर कौन उँगली उठा सकता है ? निश्चय ही वे लोग नहीं, जो महात्माजी की तरह आप काँच के महल में रहते हैं।

२

हेतुओं को अलग रख कर, मैंने अपने अभिभाषण में जो प्रश्न उठाया है उसके विषय में महात्माजी को क्या कहना है ? सब से पहले जो भी मेरा भाषण पढ़ेगा वह अनुभव करेगा कि मैंने जो प्रश्न उठाए हैं महात्माजी ने उन को बिल्कुल छुआ तक

नहीं और जो विचार्य विषय उन्होंने आप उठाए हैं वे उससे उत्पन्न नहीं होते जिसे वे मेरा हिन्दुओं पर अभियोग कहने में प्रसन्न हैं। मुख्य बातें जिनको मैंने अपने भाषण में सिद्ध करने का यत्न किया है उनकी सूची निम्नलिखित बनाई जा सकती है। (१) कि जातिभेद ने हिन्दुओं का नाश कर दिया है; (२) कि चातुर्वर्ण्य के आधार पर हिन्दू-समाज का पुनर्संगठन असंभव है, क्योंकि वर्ण-व्यवस्था एक छिद्रमय पात्र के सदृश या सिर पर चढ़ कर रहने वाले मनुष्य के समान है। यह अपने ही गुण से अपने को सँभालने के अयोग्य हैं। यदि इसके पीछे कोई ऐसी कानूनी आज्ञा न हो जो अपने वर्ण का उल्लंघन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के विरुद्ध काम में लाई जा सके, तो इसके विगड़ कर जातिभेद का रूप धारण कर लेने की प्रवृत्ति इसके भीतर मौजूद है। (३) कि चातुर्वर्ण्य के आधार पर हिन्दू-समाज का पुनः संगठन अनिष्टकर है, क्योंकि वर्ण-व्यवस्था साधारण जनता को ज्ञानार्जन का अधिकार न देकर उसकी अधोगति करती और शस्त्रधारण का अधिकार न देकर पुरुषत्वहीन बना देती है; (४) कि हिन्दू-समाज को एक ऐसे धार्मिक आधार पर पुनः संगठित करना चाहिए जो स्वतन्त्रता, समता और बंधुता के सिद्धान्त को स्वीकार करता हो; (५) कि इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जातिभेद और वर्ण के पीछे जो धार्मिक अलंघ्यता है उसे नष्ट करना आवश्यक है; (६) कि जातिभेद और वर्ण की अलंघ्यता तभी नष्ट की जा सकती है जब शास्त्रों को भगवद् वचन

मानना छोड़ दिया जाय। आप देखेंगे कि महात्माजी ने जो प्रश्न उठाए हैं वे बिलकुल अप्रासंगिक हैं। वे दिखलाते हैं कि भाषण की प्रधान युक्ति को उन्होंने पकड़ा ही नहीं।

३

महात्माजी ने जो आपत्तियाँ उठाई हैं अब मैं उनकी पड़ताल करता हूँ। महात्माजी ने पहली आपत्ति तो यह उठाई है कि मैंने जो श्लोक उपस्थित किए हैं वे प्रामाणिक नहीं। मैं स्वीकार करता हूँ कि इस विषय पर मेरा कोई अधिकार नहीं। परन्तु मैं कहना चाहता हूं कि मैंने जो श्लोक पेश किए हैं वे सब स्वर्गीय श्री० तिलक के लेखों से लिए गये हैं, और तिलक संस्कृत भाषा और हिन्दू शास्त्रों के बहुत बड़े विद्वान् माने जाते थे। उनकी दूसरी आपत्ति यह है कि इन शास्त्रों का अर्थ वह नहीं लेना चाहिए जो विद्वान् करते हैं वरन् वह लेना चाहिए जो साधु-महात्मा करते हैं और कि, जैसा साधु-सन्तों ने उनका भाव समझा है, शास्त्र जाति-भेद और अस्पृश्यता का समर्थन नहीं करते। पहली आपत्ति के सम्बन्ध में मैं महात्माजी से पूछना चाहता हूं कि श्लोकों के प्रक्षेप होने या साधु-सन्तों के उनका भिन्न आशय निकालने से किसी को क्या लाभ है? सर्व-साधारण जनता यथार्थ श्लोकों और प्रक्षिप्त श्लोकों में कोई अन्तर नहीं समझती। सर्व-साधारण को यह भी पता नहीं कि पाठ क्या है। वे इतने अपढ़ हैं कि उनको पता ही नहीं कि शास्त्रों में क्या लिखा है।

जो कुछ उनको बताया गया है वे उसी में विश्वास रखते हैं और उनको बताया यह गया है कि शास्त्र जातिभेद और अस्पृश्यता को मानने की आज्ञा देते हैं।

अब लीजिए, साधु-सन्तों की बात। यह मानना पड़ेगा कि उनकी शिक्षाएँ केवल विद्वानों की शिक्षाओं की तुलना में कितनी भी भिन्न और उत्कर्षकारी क्यों न हों, वे शोचनीय रूप से व्यर्थ सिद्ध हुई हैं। उनके व्यर्थ रहने के दो कारण हैं। किसी भी सन्त ने जातिभेद पर आक्रमण नहीं किया। इस के विपरीत वे जाति-भेद में दृढ़ विश्वास रखते थे। उनमें से अधिकांश तो अपनी अपनी जाति में ही बने रहे और उसी जाति के कहलाते हुए ही मरे। ज्ञानदेव को अपने ब्राह्मण-पद के साथ चिपटे रहने का इतना अधिक मोह था कि जब पैठन के ब्राह्मणों ने उसे अपनी बिरादरी में लेने से इन्कार किया तो उसने ब्राह्मण समाज से अपने को ब्राह्मण मनवाने के लिए आकाश-पाताल एक कर दिया। और एक नाथ ने भी जिसे "महात्मा" फिल्म में अछूतों को छूने और उनके साथ भोजन करने का साहस दिखाने के लिए हीरो दिखाया गया है, जातिभेद के विरुद्ध होने के कारण ऐसा नहीं किया था, वरन् इसलिए क्योंकि वह अनुभव करता था कि अछूतों के संसर्ग से उत्पन्न होने वाला दूषण गङ्गा के पवित्र जल में स्नान करने से धुल जाता है। जहाँ तक मेरा अध्ययन है, सन्तों ने कभी जातिभेद और अस्पृश्यता के विरुद्ध संग्राम नहीं किया वे मनुष्यों के बीच होने वाले झगड़ों के साथ कोई सम्बन्ध

नहीं रखते थे। उनको चिन्ता थी तो मनुष्य और ईश्वर के बीच के सम्बन्ध की। सब मनुष्य बराबर हैं, इसको उन्होंने कभी प्रचार नहीं किया। वे प्रचार करते थे कि सब मनुष्य ईश्वर की दृष्टि में बराबर हैं। यह एक बहुत ही भिन्न और बहुत ही अनर्थकारी कथन है जिसका प्रचार किसी को कठिन या जिसको मानना किसी को भयावह नहीं जान पड़ता।

दूसरा कारण जिससे सन्तों के उपदेश व्यर्थ सिद्ध हुए यह है कि जनता को शिक्षा दी गई है कि साधु-सन्त जातिभेद को बेशक तोड़ें* परन्तु साधारण मनुष्यों को वैसा नहीं करना चाहिए। इसलिए जनता के अनुसरण लिए किसी सन्त ने कभी उदाहरण का काम नहीं दिया। वह सदा एक ऐसा पुण्यात्मा बना रहा जिसका सन्मान होना चाहिए। सर्व-साधारण जनता जातिभेद और अस्पृश्यता की दृढ़ विश्वासी बनी रही। इससे प्रकट होता है कि साधु-सन्तों के पुण्यमय जीवन और आर्य उपदेश शास्त्रों की शिक्षाओं के विरुद्ध लोगों के जीवन और आचरण पर कोई प्रभाव नहीं रखते थे। इस प्रकार इस बात से कोई सान्त्वना नहीं मिल सकती कि ऐसे साधु-सन्त थे या ऐसा एक महात्मा है जो शास्त्रों का अर्थ थोड़े से विद्वानों या बहुत से अज्ञानियों से भिन्न करता है। सर्व-साधारण शास्त्रों के सम्बन्ध में भिन्न मत रखते हैं, यह एक ऐसी सचाई है जिसकी उपेक्षा

---

* अन्त्यजाला विटाळ ज्यासी। गङ्गा-स्नाने शुद्ध त्यासी॥
एकनाथी भागवत अ० २८, श्लो. १३१.

हीं की जा सकती। पर जो शास्त्र सर्व-साधारण के आचरण को ासित करते हैं उनके प्रमाण को समाप्त किए बिना इस सचाई े साथ कैसे व्यवहार किया जा सकता है, यह एक ऐसा प्रश्न ै जिस पर महात्माजी ने विचार नहीं किया। परन्तु शास्त्रों की शिक्षा से लोगों को युक्त करने के लिए एक सफल साधन के रूप में जो भी योजना महात्माजी पेश करें, उन्हें यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि एक अच्छे स्मार्त पुरुष का पवित्र जीवन महात्मा जी के अपने लिए बहुत उत्कर्षकारी बेशक हो, परन्तु भारत में—उस भाव को दृष्टि में रखते हुए जो सामान्य मनुष्य साधु-सन्तों और महात्माओं के प्रति रखता है—अर्थात् महात्मा का पूजन करना परन्तु अनुसरण नहीं—मनुष्य इससे कुछ अधिक लाभ नहीं उठा सकता।

महात्माजी की तीसरी आपत्ति यह है कि जिस धर्म को चैतन्य, ज्ञानदेव, तुकाराम, तिरुवल्लुवर, रामकृष्ण, परमहंस इत्यादि मानते थे, वह जैसा मैंने कहा है वैसा सद्गुण-शून्य नहीं हो सकता, और किसी धर्म के सम्बन्ध में उसके सब से बुरे नमूनों से नहीं वरन् उन सर्वोत्तम नमूनों से जो यह उत्पन्न कर सकता है, सम्मति बनानी चाहिए। इस कथन के प्रत्येक शब्द में मैं सहमत हूँ। परन्तु मेरी समझ में बिल्कुल नहीं आ रहा कि इससे महात्माजी सिद्ध क्या करना चाहते हैं। किसी धर्म को उसके सब से बुरे नमूनों से नहीं वरन् सर्वोत्तम नमूनों से परखना चाहिए, पर्याप्त सत्य है। परन्तु क्या इससे बात तय हो

जाती है ? मैं कहता हूँ, नहीं। प्रश्न अभी तक भी बना रहता है—निकृष्टतम की संख्या इतनी अधिक और श्रेष्ठतम की संख्या इतनी थोड़ी क्यों है ? मैं समझता हूँ, इस प्रश्न के केवल दो ही उत्तर हो सकते हैं। (१) कि निकृष्टतम अपनी किसी मौलिक दुष्टता के कारण नैतिक रूप से निष्कर्षणीय नहीं। और इसलिए धार्मिक आदर्श के कुछ भी निकट पहुँचने मे असमर्थ हैं। या (२) धार्मिक आदर्श एक पूर्णतः अशुद्ध आदर्श है, जिसने अनेकों के जीवनों में अशुद्ध नैतिक प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी है और कि अशुद्ध आदर्श के रहते भी सर्वोत्तम—वास्तव मे अशुद्ध प्रवृत्ति को शुद्ध दिशा में मोड़ कर—सर्वोत्तम बन गये हैं।

इन दो समाधानों में से मैं पहले को स्वीकार करने को तैयार नहीं। मुझे निश्चय है कि महात्माजी भी इसके विपरीत मानने पर आग्रह नहीं करेंगे। निकृष्टतम क्यों इतने अधिक और सर्वोत्तम क्यों इतने थोड़े हैं, जब तक इसके समाधान के लिए महात्माजी के पास और कोई तीसरा विकल्प न हो, तब तक मुझे तो दूसरा ही तर्क और युक्तिसंगत समाधान प्रतीत होता है। यदि केवल दूसरा ही समाधान है तो यह बात स्पष्ट है कि महात्माजी की यह युक्ति कि किसी धर्म को उसके सर्वोत्तम अनुयायियों से ही परखना चाहिए; हमें और किसी परिणाम पर नहीं पहुँचाती सिवा इसके कि हम उन अनेकों के भाग्य पर शोक प्रकट करें जो इसलिए गलती कर रहे हैं क्योंकि उनसे गलत आदर्शों का पूजन कराया गया है।

५.

महात्माजी की यह युक्ति कि यदि अनेक लोग साधु-म
के उदाहरण का अनुकरण करें तो हिन्दू-धर्म सत्य हो जायगा,
और कारण से भ्रान्तिजनक है।* चैतन्य आदि दीप्तिमान पुरु
नाम उद्धृत कर के मुझे ऐसा प्रतीत होता है, महात्माजी अ
विशालतम और सरलतम रूप में यह सुझाना चाहते हैं कि
समाज को उसकी रचना में किसी प्रकार का मौलिक परि
किए बिना भी, सत्य वरन् सुखी बनाया जा सकता है, यदि
उच्च वर्ण के हिन्दुओं को प्रेरणा करके उनसे नीच वर्णों के हिन्
के प्रति उनके व्यवहार में सदाचार के उच्च आदर्श का अनुस
कराया जा सके। मैं इस प्रकार की विचार-पद्धति के स
विरुद्ध हूँ। सवर्ण हिन्दुओं में से मैं उनका सन्मान कर स
हूँ जो अपने जीवन में उच्च सामाजिक आदर्श की अनुभूति
प्रयत्न करते हैं। ऐसे लोग न हों तो भारत जितना इस समय
रहने के लिए उससे अधिक भद्दा और कम सुखमय स्थान
जाय। परन्तु इस पर भी जो मनुष्य सवर्ण हिन्दुओं के व्यक्ति
चरित्र का सुधार कर के उनको अधिक अच्छा बनाने के उ
पर भरोसा करता है, वह मेरी समझ में अपनी शक्ति को

---

*इस सम्बन्ध में अप्रैल १९३६ के "आरियन पाथ" में श्री०
एन० ब्रेल्सफोर्ड का "मोरेलिटी एण्ड सोशल स्ट्रकचर" श
ज्ञानवर्धक लेख देखिए।

नष्ट करता और मृगतृष्णा को पकड़ता है। क्या व्यक्तिगत चरित्र शस्त्रास्त्र बनाने वाले को अच्छा मनुष्य अर्थात् एक ऐसा मनुष्य बना सकता है जो ऐसे गोले बनाये जो फटेंगे नहीं और ऐसी गैस तैयार करे जो विषाक्त न हो? यदि यह नहीं हो सकता, तो आप कैसे आशा कर सकते हैं कि व्यक्तिगत चरित्र जातिभेद की चेतना से लदे हुए मनुष्य को एक अच्छा मनुष्य, अर्थात् एक ऐसा मनुष्य बना देगा जो अपने संगी-साथियों को अपना बराबर का भाई और मित्र समझे? अपने विश्वासानुसार आचरण करने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने संगी-साथियों के साथ या तो अपने को उनसे बड़ा मान कर या उनसे छोटा मान कर जैसी भी अवस्था हो, कम से कम अपनी जाति बिरादरी के लोगों के साथ जैसा उसका व्यवहार है उससे भिन्न, व्यवहार करे। उससे कभी आशा नहीं की जा सकती कि वह अपने हम जोलियों के साथ अपने भाई बन्धुओं और बराबर वालों जैसा व्यवहार करेगा। यह एक सचाई है कि हिन्दू उन लोगों के साथ जो उस की अपनी जाति के नहीं, विदेशियों का ऐसा व्यवहार करता है—उन विदेशियों का ऐसा जिनके विरुद्ध आत्मीयजनों से भिन्न प्रकार का व्यवहार करने के लिए उसे कोई दण्ड नहीं मिलता और जिनके साथ कोई भी धोखा या चालाकी करने के लिए उसे कोई लज्जा नहीं होती। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि कोई अपेक्षाकृत अधिक अच्छा या अधिक बुरा हिन्दू तो हो सकता है, परन्तु कोई अच्छा हिन्दू नहीं हो सकता। ऐसा होने

। कारण यह नहीं कि उसके व्यक्तिगत चरित्र में कोई दोष । वस्तुतः जिस चीज़ में दोष है वह है उसके संगी-साथियों के ाथ उस के सम्बन्ध का अविकल आधार। अच्छे से अच्छे नुष्य भी नैतिक नहीं हो सकते यदि उनके और उनके संगी- ाथियों के बीच के सम्बन्ध का आधार मौलिक रूप से अशुद्ध म्बन्ध है। एक दास के लिए उसका स्वामी अपेक्षाकृत अधिक च्छा या अधिक बुरा हो सकता है। परन्तु कोई अच्छा स्वामी हीं हो सकता। कोई अच्छा मनुष्य स्वामी नहीं बन सकता। ौर कोई स्वामी अच्छा मनुष्य नहीं हो सकता। ऊँची जातियों ौर नीच जातियों के बीच के सम्बन्ध पर भी यही बात लागू ती है। एक नीच जाति के मनुष्य के लिए एक उच्च जाति का नुष्य ऊँची जाति के दूसरे मनुष्यों की तुलना में अधिक अच्छा । अधिक बुरा हो सकता है। एक ऊँची जाति का मनुष्य जो पने को ऊँची जाति का कहलाने के लिए किसी दूसरे को नीची ाति का मानना आवश्यक समझता है कभी अच्छा मनुष्य नहीं । सकता। किसी नीची जाति के मनुष्य के लिए इस बात की तना का होनां कि मेरे ऊपर कोई उच्च वर्ण का मनुष्य है, कभी च्छा नहीं हो सकता। मैंने अपने अभिभाषण में इस बात पर हस की है कि वर्ण या जातिभेद पर आधारित समाज एक ऐसा माज है जो अशुद्ध सम्बन्ध पर आधारित है। मैं आशा किए ए था कि महात्माजी मेरी युक्ति को काटेंगे। परन्तु उसे काटने बजाय उन्होंने चातुर्वर्ण्य में अपने विश्वास को बार बार दुह-

राया है, परन्तु वे कारण प्रकट नहीं किए जिन पर उस विश्वास का आधार है।

६

महात्माजी जिस बात का प्रचार करते हैं क्या वे आप भी उस पर आचरण करते हैं ? जो युक्ति अपने उपयोग में सार्वत्रिक हो उसमें व्यक्तिगत उल्लेख करना मनुष्य पसन्द नहीं करता। परन्तु जब मनुष्य एक वाद का प्रचार करता है और उसे एक सिद्धान्त मानता है तो यह जानने की उत्सुकता होती है कि जिस बात का प्रचार करता है उस पर वह स्वयं कहाँ तक आचरण करता है। हो सकता है कि उसके अनुसार आचरण करने में उसे इसलिए विफलता हुई हो क्योंकि आदर्श इतना ऊँचा है कि उसको प्राप्त नहीं किया जा सकता; या यह भी हो सकता है कि उसके अनुसार आचरण करने में उसकी विफलता का कारण उस मनुष्य का स्वभावसिद्ध दम्भ हो। जो भी हो, वह अपने आचरण को परीक्षा के लिए हमारे सामने खुला रख देता है। मुझे कोई दोष नहीं देना चाहिए यदि मैं पूछूँ कि महात्माजी ने अपनी अवस्था में अपने आदर्श को सिद्ध करने का कहाँ तक यत्न किया है। महात्माजी जन्म से बनिया हैं। उनके पूर्वज वाणिज्य छोड़ कर रजवाड़ों के दीवान बन गये, और यह व्यवसाय ब्राह्मणों का है। उनके अपने जीवन में, उनके महात्मा बनने के पहले जब उनको अपने लिए व्यवसाय चुनने का अवसर आया, तो उन्होंने बैरिस्टरी को तराजू से अच्छा समझा। कानून का परित्याग करने

पर वे आधे सन्त और आधे राजनीतिज्ञ बन गये। उन्होंने वाणिज्य को, जो उनका पैतृक व्यवसाय है, कभी छुआ तक नहीं उनके सब से छोटे पुत्र ने—मैं उसे लेता हूँ जो अपने पिता का सच्चा अनुयायी है—जो जन्मना वैश्य है, एक ब्राह्मण की लड़की से विवाह किया है और एक समाचार-पत्र के धनी स्वामी के यहाँ नौकरी कर रक्खी है। हम नहीं जानते जो महात्माजी ने उसे अपना पैतृक व्यवसाय न करने के लिए बुरा कहा हो। किसी आदर्श को उसके निकृष्टतम नमूनों से परखना अशुद्ध एवं अनुदारता हो सकता है। और नमूने के रूप में निश्चय ही महात्माजी से अधिक अच्छा और दूसरा कोई नहीं। यदि वे भी आदर्श को सिद्ध करने में विफल रहते हैं, तो वह आदर्श अवश्य ही असम्भव आदर्श, और मनुष्य के व्यावहारिक सहज ज्ञान के नितान्त विरुद्ध है। कारलायल के ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले लोग जानते हैं कि वह बहुधा किसी विषय पर विचार करने के पूर्व ही उस पर बोल दिया करता था। पता नहीं कि जातिभेद के विषय में भी महात्माजी की अवस्था भी कहीं वैसी ही तो नहीं। अन्यथा वे कई प्रश्न जिन पर मेरा ध्यान जाता है उनसे बच कर न निकल जाते। किसी काम को किसी मनुष्य के लिए अवश्य करणीय ठहराने के लिए किस समय कोई काम पैतृक काम समझा जा सकता है ? क्या मनुष्य को अवश्य अपना पैतृक व्यवसाय ही करना चाहिए, चाहे वह उसकी योग्यता के अनुसार न हो, चाहे उस से उसे कुछ भी लाभ न हो सकता हो ? क्या मनुष्य

को अपने पैतृक व्यवसाय से ही पेट पालना चाहिए, चाहे यह व्यवसाय उसे दासमय प्रतीत हो ? यदि प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपने बाप-दादा का व्यवसाय करना आवश्यक है तो पुरुष को कुटना बना रहना चाहिए क्योंकि उसका दादा कुटना था, और स्त्री को वेश्या बनी रहना चाहिए क्योंकि उस की दादी वेश्या थी। क्या महात्माजी अपने वाद के तर्क-संगत परिणाम को स्वीकार करने को तैयार हैं ? मेरे मत में तो उनका मनुष्य को अपने बाप-दादा का ही व्यवसाय करने का आदर्श न केवल असम्भव और अव्यावहारिक आदर्श है, वरन् नैतिक रूप से भी असमर्थनीय आदर्श है।

७

महात्माजी एक ब्राह्मण के जीवन भर ब्राह्मण बना रहने को बड़ी अच्छी बात समझते हैं। इस सचाई को अलग रख कर भी कि अनेक ऐसे ब्राह्मण हैं जो जीवन भर ब्राह्मण बना रहना पसंद करते हैं हम उन ब्राह्मणों के सम्बन्ध में क्या कह सकते हैं जो पुरोहिताई के अपने पैतृक व्यवसाय से चिपटे हुए हैं ? क्या वे पैतृक व्यवसाय के सिद्धान्त को पवित्र समझ कर ऐसा कर रहे हैं या क्या वे धन के लोभ में ऐसा कर रहे हैं ? ऐसा प्रतीत होता है, महात्माजी को ऐसी जिज्ञासाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। वे इसी बात से सन्तुष्ट हैं कि ये "सच्चे ब्राह्मण हैं जो उनको स्वेच्छापूर्वक दी गई भिक्षा पर निर्वाह कर के अपनी आध्या-

त्मिक निधि में से लोगों को मुक्तहस्त से दान करते हैं।" महात्मा
जी को परम्परागत ब्राह्मण पुरोहित का यही रूप—आध्यात्मिक
निधियों का वाहक—दीखता है। परन्तु परम्परागत ब्राह्मणों का
एक दूसरा चित्र भी खींचा जा सकता है। ब्राह्मण प्रेम के देवता
विष्णु का पुरोहित हो सकता है। वह विनाश के देवता शङ्कर
का पुरोहित हो सकता है। वह बुद्ध-गया में बुद्ध का पुरोहित
बन कर बुद्ध का पूजन कर सकता है—उस बुद्ध का जो मानव
जाति का सब से बड़ा गुरु था और जिसने प्रेम के श्रेष्ठ सिद्धान्त
का उपदेश किया था। वह काली का भी पुरोहित हो सकता है,
और काली वह देवी है जिसकी रक्त-पिपासा को शान्त करने के
लिए प्रति दिन एक पशु की बलि देना आवश्यक है! वह क्षत्रिय
अवतार राम के देवालय का पुरोहित बन जायगा! वह परशुराम
के मन्दिर का भी पुरोहित बन जायगा—परशुराम वह अवतार
है जो क्षत्रियों के विनाश के लिए हुआ था! वह सृष्टि के कर्त्ता
ब्रह्मा का भी पुजारी बन सकता है। वह किसी ऐसे पीर का भी
पुजारी हो सकता है जिसका परमेश्वर अल्लाह जगत पर अपने
आध्यात्मिक प्रभुत्व में ब्रह्मा के भागीदार होने के दावे को सहन
नहीं कर सकता! कोई नहीं कह सकता कि यह चित्र सच्चा नहीं।
यदि यह सच्चा चित्र है तो मालूम नहीं कि ऐसे देवी-देवताओं के
भक्त बन सकने की योग्यता को क्या कहा जाय जिनके गुण
इतने परस्पर विरोधी हैं कि कोई भी निष्कपट मनुष्य उन सब
का पुजारी नहीं हो सकेता। हिन्दू लोग इस असाधारण घटना

को अपने धर्म का सब से बड़ा गुण—अर्थात् उसके चित्त की उदारता, उसका सहिष्णुता का भाव—समझते हैं। इस सुसाध्य मत के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि यह जो चित्त की उदारता और सहिष्णुता है यह वास्तव में उदासीनता या ढिलमिल विश्वास से बढ़ कर प्रशंसा-योग्य नहीं। इन दोनों भावों को बाहर से देखने पर एक दूसरे से पहचानना कठिन प्रतीत होता है। परन्तु अपने वास्तविक गुण में वे एक दूसरे से इतने अत्यावश्यक रूप से भिन्न हैं कि जो भी मनुष्य उनकी ध्यानपूर्वक परीक्षा करेगा वह उन को एक दूसरे से पहचानने में कभी भूल नहीं कर सकता। किसी मनुष्य के अनेक देवी-देवताओं की पूजा अर्चा करने के लिए तैयार रहने को उसके सहिष्णु भाव के प्रमाण के रूप में पेश किया जा सकता है। परन्तु क्या यह स्वार्थ-सिद्धि की अभिलाषा से उत्पन्न हुए दम्भ का भी प्रमाण नहीं हो सकता? मुझे निश्चय है कि यह सहिष्णुता केवल दंभ है। यदि इस मत का आधार सुदृढ़ है, तो मनुष्य पूछ सकता है कि उस व्यक्ति के पास क्या आध्यात्मिक निधि हो सकती है जो किसी भी ऐसे देवी-देवता का पुरोहित और पुजारी बनने के लिए तैयार है जिसकी पूजा-अर्चा से उसका स्वार्थ सिद्ध होता है? ऐसा मनुष्य न केवल सब प्रकार की आध्यात्मिक निधियों से शून्य समझा जाना चाहिए, वरन् उसके लिए पिता से पुत्र को मिली हुई आत्म-चालित क्रिया के समान, बिना श्रद्धा के, बिना विश्वास के, पैतृक होने के कारण ही पुरोहित के ऐसे उत्कर्षकारी व्यवसाय का करना

सद्गुण का रक्षण नहीं; यह वास्तव में एक श्रेष्ठ व्यवसाय
जो धर्म की सेवा के सिवा और कुछ नहीं, दुरुपयोग है।

८

प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अपना पैतृक धंधा ही करना चाहिए' इस
न्त के साथ महात्माजी क्यों चिपटे हुए हैं ? इसके कारण
ने कहीं भी नहीं बताए। परन्तु कारण अवश्य होगा, यद्यपि
से स्पष्ट कहने की परवाह नहीं करते। कुछ वर्ष हुए अपने
ङ्ग इण्डिया" में "जातिभेद बनाम श्रेणीभेद" शीर्षक से
ते हुए उन्होंने बहस की थी कि जातिभेद श्रेणीभेद से अच्छा
और हेतु यह दिया था कि जातिभेद सामाजिक स्थिरता की
त्तम सम्भव व्यवस्था है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अपना ही
धंधा करना चाहिए, इस सिद्धान्त के साथ चिपटे रहने के
यदि महात्माजी का यही कारण है, तब वे सामाजिक जीवन
ठे मत से चिपटे हुए हैं। प्रत्येक मनुष्य सामाजिक स्थायित्व
ता है और स्थायित्व प्राप्त करने के लिए व्यक्तियों और
यों के बीच के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था अवश्य करनी
हिए। परन्तु दो बातें, मुझे निश्चय है, कोई नहीं चाहता।
बात जिसे कोई नहीं चाहता वह है अचल सम्बन्ध, कोई
चीज़ जो अपरिवर्तनीय है, कोई ऐसी चीज़ जो सब कालों
लिए स्थिर है। स्थिरता की आवश्यकता है परन्तु परिवर्तन की
न करके नहीं, जब कि परिवर्तन अत्यावश्यक हो। दूसरी

बात जो कोई नहीं चाहता वह है केवल व्यवस्थापन। व्यवस्था की आवश्यकता है पर सामाजिक न्याय का बलिदान कर के नहीं। क्या कोई कह सकता है कि जातिभेद के आधार पर, अर्थात् इस आधार पर कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना परम्परागत धंधा करना चाहिए, सामाजिक सम्बन्ध की व्यवस्था इन दो बुराइयों से बचाती है? मुझे विश्वास है कि यह नहीं बचाती। इसका सर्वोत्तम सम्भव व्यवस्था होना तो दूर, मुझे तनिक भी संदेह नहीं कि यह बुरी से बुरी व्यवस्था है क्योंकि यह सामाजिक व्यवस्था के दोनों नियमों—तरलता और न्यायपरता—को भङ्ग करती है।

६

कुछ लोग शायद समझें कि महात्माजी ने बहुत उन्नति कर ली है क्योंकि वे अब केवल वर्ण में विश्वास रखते हैं, जातिभेद में नहीं। यह सत्य है कि एक समय महात्माजी कट्टर सनातनी हिन्दू थे। वे वेदों, उपनिषदों पुराणों और उन सब को मानते थे जिन्हें हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थ कहा जाता है, और इसलिए वे अवतार और पुनर्जन्म में विश्वास रखते थे। वे जातिभेद को मानते थे और एक कट्टर सनातनी की भांति पूरे बल से उसका समर्थन करते थे। वे इकट्ठे मिल कर खाने, इकट्ठे मिल कर पीने, तथा अन्तर्जातीय विवाह की पुकार की निन्दा करते थे और युक्ति यह देते थे कि इकट्ठे मिल कर खाने पर नियन्त्रण "इच्छा-शक्ति की

मैंने अपने भाषण में दिए हैं, वैदिक वर्ण-व्यवस्था को नहीं मानता, तो भी मैं निवेदन करना चाहता हूं कि वर्ण का वैदिक सिद्धान्त, जैसा कि स्वामी दयानन्द और दूसरे लोगों ने उसका आशय प्रकट किया है, एक युक्तियुक्त और निर्दोष चीज़ है। यह समाज में किसी व्यक्ति के पद का निश्चय उसके जन्म से नहीं करता। यह केवल गुणों को स्वीकार करता है। महात्माजी का वर्ण-सम्बन्धी मत वैदिक वर्ण को एक असंगत विचार ही नहीं वरन एक घृणा करने योग्य वस्तु भी बना देता है।

वर्ण और जातिभेद दो विभिन्न प्रत्यय हैं। वर्ण का आधारभूत सिद्धान्त है प्रत्येक व्यक्ति अपने गुण के अनुसार। इसके विपरीत जातिभेद का आधारभूत सिद्धान्त है प्रत्येक व्यक्ति उसके जन्म के अनुसार। दोनों एक दूसरे से उतने ही भिन्न हैं, जितना कि चाक की मिट्टी पनीर से। वास्तव में दोनों एक दूसरे के प्रतिपक्षी हैं। यदि महात्माजी मानते हैं, जैसा कि उनका विश्वास है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अपना पैतृक व्यवसाय करना चाहिए, तो अत्यन्त निश्चित रूप से वे जाति-भेद का ही समर्थन करते हैं, और इसको वर्ण व्यवस्था कह कर वे न केवल पारिभाषिक अशुद्धि करते हैं वरन् गड़बड़ को और भी बढ़ा रहे हैं।

मुझे निश्चय है कि इस सारी गड़बड़ का कारण यह है कि महात्माजी को न तो इस बात की कोई निश्चित और स्पष्ट कल्पना है कि वर्ण क्या है और जातिभेद क्या, और न इस बात की कि [illegible] के लिए दोनों की क्या आवश्यकता है। वे

कह चुके हैं और आशा की जाती है कि उन्हें अपने इस मत
के जातिभेद हिन्दू-धर्म का कोई तत्व नहीं, वदलने के लिए के
रहस्यमय हेतु नहीं मिल जायगा। क्या वे वर्ण को हिन्दू-धर्म
तार मानते हैं ? अभी तक कोई इसका स्पष्ट उत्तर नहीं दे सकत
उन के "डाक्टर अम्बेडकर का अभियोग" शीर्षक लेख के पाठ
इसके उत्तर में 'नहीं' कहेंगे। उस लेख में वे यह नहीं कहते
वर्ण का सिद्धान्त हिन्दू धर्म का आवश्यक अंग है। वर्ण
हिन्दू धर्म का अंग मानना तो दूर, वे कहते कि "एक और केव
एक परमेश्वर को सत्य कहना और मानव-परिवार के नियम
रूप में अहिंसा को स्पष्ट स्वीकार करना ही हिन्दू-धर्म का त
है।" परन्तु जिन लोगों ने श्री सन्तराम के उत्तर में उनका ले
पढ़ा है वे कहेंगे 'हाँ'। उस लेख में वे कहते हैं, "कुरान को
मान कर कोई मनुष्य मुसलमान और वायविल को न मान
कोई मनुष्य ईसाई कैसे रह सकता है ? यदि जातिभेद औ
वर्णभेद दोनों एक ही चीज़ हैं और यदि वर्ण उन शास्त्रों का
अखण्ड अंश है जो बताते हैं कि हिन्दू-धर्म क्या है, तो मैं न
जानता कि जो व्यक्ति जातिभेद अर्थात् वर्ण को नहीं मानता व
अपने को हिन्दू कैसे कह सकता है ?"

यह टाल-मटोल और वाक्छल क्यों ? महात्माजी अप
बचाव के लिए अपने इर्द गिर्द वाड़ क्यों लगा रहे हैं ? वे कि
को प्रसन्न करना चाहते हैं ? क्या सन्त के रूप में वे सत्य क
नहीं कर सके ! या क्या उनका राजनीतिज्ञ रूप सन्त

मार्ग में रुकावट बन रहा है ? महात्माजी के इस गड़बड़ में पड़ने के सम्भवतः दो कारण हैं। पहला तो है महात्माजी की प्रवृत्ति। प्रायः प्रत्येक बात में वे बालक की सी सरलता दिखाते हैं और बालक की ऐसी आत्म-वंचना उन में है। जिस भी बात में वे विश्वास करना चाहते हैं उसमें बालक की भांति वे विश्वास कर सकते हैं। इसलिए हमें उस समय तक प्रतीक्षा करना आवश्यक है जब महात्माजी की इच्छा वर्ण में विश्वास करना छोड़ देने की होगी, जैसा कि उन्होंने जातिभेद को मानना अपनी इच्छा से छोड़ दिया है।

गड़बड़ का दूसरा कारण यह है कि महात्माजी एक साथ दो चीजें बनना चाहते हैं—एक महात्मा और दूसरे राजनीतिज्ञ। महात्मा के रूप में वे बेशक राजनीति को आध्यात्मिक रंग में रँगने का यत्न कर रहे हों। इस में उनको सफलता हुई है या नहीं, पर राजनीति ने निश्चय ही उनकी इस स्थिति से अनुचित लाभ उठाया है। राजनीतिज्ञ को ज्ञान रहना चाहिए कि समाज सम्पूर्ण सत्य को सहन नहीं कर सकता, और कि यदि सम्पूर्ण सत्य उसकी राजनीति के लिए बुरा हो तो उसे सम्पूर्ण सत्य नहीं कहना चाहिए। महात्माजी जातिभेद और वर्ण का सदा समर्थन इस लिए किया करते हैं क्योंकि उन को डर है कि यदि मैंने इनका विरोध किया तो राजनीति में मेरा कोई स्थान नहीं रह जायगा। इस गड़बड़ का कारण चाहे जो हो, परन्तु महात्माजी को यह बात स्पष्ट कर देनी चाहिए कि, वर्ण का नाम लेकर जातिभेद का प्रचार करने से वे अपने को और साथ ही जनता को धोखा दे रहे हैं।

१०

महात्माजी कहते हैं कि हिन्दुओं और हिन्दू-धर्म को परखने के लिए जिन कसौटियों का मैंने प्रयोग किया है वे बहुत कड़ी हैं, और कि उन कसौटियों पर परखने से प्रत्येक जीता धर्म जिस का हमें ज्ञान है संभवतः फेल हो जायगा। यह शिकायत कि मेरी कसौटियाँ बहुत कड़ी हैं, सत्य हो सकती है। परन्तु प्रश्न यह नहीं कि वे कड़ी हैं या नरम। प्रश्न यह है कि क्या वे प्रयोग के लिए ठीक कसौटियां हैं ? किसी जनता को और उसके धर्म को सामाजिक आचार-नीति पर आधारित सामाजिक कसौटियों से परखना आवश्यक है। यदि धर्म को जनता के कल्याण के लिए आवश्यक भलाई माना जाता है तो किसी दूसरी कसौटी का कोई अर्थ नहीं होगा।

अब मैं दृढ़तापूर्वक कहता हूँ कि हिन्दुओं और हिन्दू धर्म को परखने के लिए जिन कसौटियों का उपयोग मैंने किया है वे अतीव उचित कसौटियाँ हैं, उनसे अच्छी किसी कसौटी का मुझे ज्ञान नहीं। मेरी कसौटी पर परखने से प्रत्येक ज्ञात धर्म फेल हो जायगा, यह परिणाम सत्य हो सकता है। परन्तु इस बात से महात्माजी को, हिन्दुओं और हिन्दू धर्म के रक्षक के रूप में, उस से अधिक सान्त्वना नहीं मिल सकती जितनी कि एक पागल को दूसरे पागल के होने से, या एक अपराधी को दूसरे अपराधी के होने से मिल सकती है; मैं महात्माजी को निश्चय कराना चाहता

हूँ कि हिन्दुओं और हिन्दू धर्म से जिस घृणा एवं तिरस्कार-भाव का दोष मुझ पर लगाया जाता है वह मुझ में केवल उनकी विफलता ने ही उत्पन्न नहीं किया—

मैं अनुभव करता हूँ कि यह जगत बहुत ही अपूर्ण जगत है, और जो मनुष्य इसमें रहना चाहता है उसे इसकी अपूर्णताओं को सहन करना होगा। जिस समाज में रह कर उद्योग करना मेरे भाग्य में बदा है उसकी न्यूनताओं और त्रुटियों को सहन करने को मैं तैयार हूँ। परन्तु मैं अनुभव करता हूँ कि मैं ऐसे समाज में रहने को सहमत नहीं हो सकता जो अशुद्ध आदर्शों को प्रिय समझता है, या जो शुद्ध आदर्श रखते हुए भी अपने सामाजिक जीवन को उन आदर्शों के अनुकूल बनाने को सहमत नहीं। यदि मैं हिन्दुओं और हिन्दू धर्म से ऊब गया हूँ तो इसका कारण यह है कि मुझे निश्चय हो गया है कि वे अशुद्ध आदर्शों को प्रिय समझते और अशुद्ध सामाजिक जीवन बिताते हैं। हिन्दुओं और हिन्दू धर्म के साथ मेरा झगड़ा उनके सामाजिक आचरण की न्यूनताओं के कारण नहीं। यह उससे कहीं अधिक मौलिक है। यह उन के आदर्शों के कारण है।

११

…ज को नैतिक पुनर्जन्म की आवश्यकता है। उस… स्थगित करना भयावह है। और प्रश्न यह है कि … का निश्चय और नियन्त्रण कौन कर सकता

है ? प्रत्यक्षत: केवल वही लोग जिनका बौद्धिक पुनरुद्धार हो चुका है और केवल वही लोग जो इतने ईमानदार हैं कि उनमें बौद्धिक उद्धार से उत्पन्न हुए विश्वासों को रखने का साहस है। इस कसौटी पर परखने से गण्य-मान्य हिन्दू नेता मेरी सम्मति में इस काम के नितान्त अयोग्य हैं। यह कहना असंभव है कि उनका प्रारम्भिक बौद्धिक पुनरुद्धार हो चुका है। यदि उनका बौद्धिक पुनरुद्धार हो चुका होता तो वे न तो अशिक्षित जन-समुदाय की सरल रीति से अपने को धोखा देते और न दूसरों की मौलिक अविद्या से अनुचित लाभ उठाते जैसा कि हम उन्हें उठाते देखते हैं। यद्यपि हिन्दू-समाज चूर चूर होता जा रहा है, इस पर भी ये नेता, विना किसी प्रकार की लज्जा का अनुभव किए, अतीत के आदर्शों को अपील करते हैं। उन आदर्शों का वर्तमान के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। वे अपने आरम्भिक काल में चाहे कितने ही उपयुक्त क्यों न हों, पर अब तो पथ-दर्शक के वजाय चेतावनी वन गये हैं। प्राचीन रीतियों के प्रति अभी तक भी उनमें सम्मान का भाव है। ये प्राचीन प्रथाएँ उनको उनके समाज के आधारों की परीक्षा करने का अनिच्छुक वरन् विरोधी वनाती हैं।

निस्संदेह हिन्दू जन-साधारण अपने विश्वास वनाने में आश्चर्यजनक रूप से असावधान हैं। परन्तु यही वात हिन्दू-नेताओं की है। और इससे भी वुरी वात यह है कि हिन्दू नेताओं से जब कोई उनके विश्वास की मैत्री छुड़ाना चाहता है तो उनमें उन

विश्वासों के लिए और भी अनुचित अनुराग बढ़ जाता है। महात्माजी भी इसका अपवाद नहीं। ऐसा लगता है, महात्माजी सोचने में विश्वास नहीं रखते। वे सन्तों का अनुसरण करना अधिक अच्छा समझते हैं। प्रतिष्ठित भावनाओं के प्रति पूजा-भाव रखने वाले परिवर्तन-विरोधी मनुष्य की भांति, वे डरते हैं कि यदि उन्होंने एक बार सोचना आरम्भ कर दिया तो अनेक आदर्श एवं संस्थाएँ जिनके साथ वे चिपटे हुए हैं नष्ट हो जायँगी।

महात्माजी हमारी सहानुभूति के पात्र हैं। कारण यह कि स्वाधीन चिन्ता का प्रत्येक कर्म ऊपर से स्थिर दिखाई देने वाले जगत् के किसी अंश को जोखिम में डाल देता है। परन्तु यह बात भी समान रूप से सत्य है कि साधु-सन्तों पर अवलंबित रहने से हम कभी सत्य को नहीं जान सकते। साधु-सन्त अन्त को मानव-प्राणी ही हैं, और जैसा कि लार्ड बलफोर कहा करते थे, "मानव-मन उस से अधिक सचाई को मालूम करने वाला यंत्र नहीं जितनी कि सुअर की थूथन होती है।" जहाँ तक वे विचार भी करते हैं, मुझे ऐसा लगता है कि हिन्दुओं की इस पुरानी समाज-रचना के समर्थन के लिए हेतु ढूँढ कर वे अपनी बुद्धि के साथ व्यभिचार कर रहे हैं। वे जातिभेद के सर्वाधिक प्रभावशाली पक्षपात करने वाले हैं, और इसलिए हिन्दुओं के सब से बुरे वैरी हैं।

महात्माजी के विपरीत, कई ऐसे हिन्दू नेता हैं जो केवल